सृजना और आलोचना

संपादक
डॉ. चन्द्रलेखा

शिल्पायन
दिल्ली-110032

(यू.जी.सी. एकेडेमिक स्टॉफ कॉलेज, गोवा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आंशिक आर्थिक सहयोग से 'अन्तर्विधावर्ती–पुनश्चर्या पाठ्यक्रम 2007' हेतु प्रकाशित)

ISBN 978-81-89918-76-7

© सम्पादक

प्रकाशक
शिल्पायन
10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032
दूरभाष : 011-22821174

मूल्य
300.00

संस्करण
2010

आवरण
उमेश शर्मा

शब्द-संयोजन
उमेश लेजर प्रिंट्स, दिल्ली

मुद्रक
रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-32

SRIJANA AUR ALOCHNA (Criticism)
edited by Chandralekha D'souza

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक विशिष्टता

रोहिताश्व

भारतीय साहित्य से तात्पर्य केवल वैदिक संस्कृत या संस्कृत साहित्य, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश या विभिन्न भारतीय क्षेत्रों के भाषा-साहित्य का कुल योग नहीं है, और न ही यह केवल साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास, वैचारिक सन्तुलन, दार्शनिक प्रवृत्तियों या समन्वय प्रवृत्ति का लेखा-जोखा है बल्कि भारतीय साहित्य का अनुशीलन विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में परिव्याप्त लोक और शास्त्र, अभिजात्य एवं निम्न वर्ग, द्विज और शूद्र, शासक और शोषित की डायलेक्टिक्स अर्थात् द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के सम्यक् विवेचन से जुड़ा हुआ है।

विगत पाँच हजार वर्षों से परिव्याप्त कबीलाई समाज, कृषि युग, सामंतवाद से लेकर आधुनिक पूँजीवादी उपनिवेश, साम्राज्यवादी-वैश्वीकरण की प्रक्रिया में भारतीय जन-जीवन की विकासशील प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक अंतश्चेतना, आस्था-जिजीविषा, ऐतिहासिक-अन्तर्विरोध और परिवर्तित जीवन शैली की समाहारता सम्बन्धी विवेचना है। जिसे विभिन्नता में एकता और एकता में विभिन्नता के सरलीकृत सूत्रों में कतिपय आलोचक व्याख्यायित करते हैं। दरअसल साहित्य दर्शन अपने सामाजिक आर्थिक **आधार** (बेस) से कला-संस्कृति रूपी **आधेय** (सुपर स्ट्रक्चर) सम्बन्धी वितान या रेखांकन भर है। जिसे रचनाकार या पाठक अपनी रुचि, प्रवृत्ति, विचारधारा या प्रतिबद्धता से देशकाल व युगीन सन्दर्भों में वैचारिक **'विजन'** से सादृश्यता पा लेता है।

भारतीय साहित्य की डायलेक्टिक्स (द्वंद्वात्मकता) को विश्लेषित या व्याख्यायित किए बगैर हम उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता के वादी-विवादी और संवादी स्वर (थीसीस, एण्टीथीसीस और सिन्थेसिस) को जान नहीं पाएँगे। भारतीय मनीषा केवल आध्यात्मिकता, रहस्यात्मकता, ब्रह्म-विवेचन या प्राकृतिक शक्ति सम्बन्धी देवताओं के गुणगान की नहीं रही है बल्कि वह विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों के लोकजीवन में परिव्याप्त भौतिक दृष्टि और आत्मिक विकास; वस्तुगत यथार्थ की विसंगति और मानवीय संज्ञान के उत्कर्ष की गाथा रही है। जिसे हम

मातृसत्तात्मक परिवार और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विस्थापन, कबीलाई समाज-कृषियुग (रामायण-महाभारत काल) से लेकर वैश्वीकरण के वर्तमान युग में द्रविड़ और आर्य, ग्रीक, हूण, तुर्क, मंगोल, शक, कुषाण, आभीर, गुर्जर, मुगल, ब्रिटिश-पुर्तगीज जातियों के संक्रमण, विलयन और संश्लेषण से प्रभावित साहित्य व संस्कृति विलयन और संश्लेषण से प्रभावित भारतीय साहित्य व संस्कृति की कला-वीथियों में संचार करते हुए देख सकते हैं। वैष्णव-भागवत धर्म की टकराहट न केवल जैन और बौद्ध धर्म दर्शन की विचार सरणि से रही है बल्कि कालान्तर में भारतीय वर्ण व्यवस्था को युगीन चुनौतियाँ, प्रहारक राजनैतिक शक्तियों इस्लाम व क्रिश्चियनिटी की नवधारणाओं से मिलती रही हैं, वर्ण और वर्ग की संक्रमणशील एवं समन्वयकारी संरचना ने भारतीय साहित्य के नए आयाम रचे हैं। जिसे हम भाववादी और भौतिकवादी दृष्टि के संघर्ष (थीसीस) युगीन अन्तर्विरोध के विमर्श एण्टीथिसीस और सिंथेसिस से व्युत्पन्न संतुलन, एकता और विविधता की संज्ञा दे सकते हैं। सन्तों और भक्तों के वैचारिक-दार्शनिक योगदान, नारी चेतना और निम्न वर्ग के सकारात्मक योगदान ने कई लोमहर्षक परिदृश्य के उत्थान रचे हैं। अतः विचारधारा, दर्शन और अन्तर्विधावर्ती अनुशासन की समन्वित दृष्टि ही समाजशास्त्रीय और सौन्दर्यबोधी पहलुओं से भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक विशिष्टता को रेखांकित कर सकती है।

तुलनात्मक साहित्य के पद्धति विज्ञान के आश्रय से भारतीय साहित्य के विभिन्न प्रादेशिक भाषा-साहित्य, स्वरूप एवं प्रकृति, दर्शन एवं विचारधारा, समाजशास्त्रीय विवरणों और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संक्रमण की एकक अवधारणा बन सकती है। 'कालक्रम के स्थान पर समस्वार्थता' (Elements of solidarity) के आधार पर विवेचन करने से यह सम्भव है। मगर समस्वार्थता के तत्त्वों को चुनने के लिए भारतीय सन्दर्भ में उन ऐतिहासिक कार्य-कारण सम्बन्धों का ध्यान रखना होगा जिनके पीछे विभिन्न आक्रमणकारी तत्त्वों और कालान्तर में समन्वयकारी विचार दर्शन का एक खास हाथ रहा है। दरअसल भारतीय साहित्य के तुलनात्मक साहित्यिक इतिहास की रचना में पाश्चात्य साहित्य के (अन्तरावलम्बन के) साथ भारतीय साहित्य के (सांस्कृतिक) सम्बन्धों तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों में पहला सम्बन्ध **ऐतिहासिक** है और दूसरा अंशतः ऐतिहासिक एवं अंशतः **काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यपरक** रहा है।[1]

भारतीय साहित्य : वैदिक काल से वर्तमान काल

अगर हमें वाल्मीकिकृत रामायण और व्यासकृत महाभारत की सांस्कृतिक-ऐतिहासिक व्याख्या करनी है तो उसकी समानान्तरता होमरकृत 'इलियड' और ओडेसी से करनी होगी, साथ ही जैन दर्शन की 'पउमचरित' व बौद्ध दर्शन की उत्तररामचरित

जैसी सापेक्ष रचनाएँ महत्त्व रखती हैं। 326-25 ईसा पूर्व मकदूनिया के विजेता सिकन्दर ने पंजाब और सिन्ध को अपने रिसालों से रौंद डाला था। भारत को इस पारसीक सम्बन्ध से नया वैचारिक आधार मिला। युगपुराण कृति इसे युगांतर और युगसंधि का काल मानती है। "ईसा पूर्व दूसरी सदी में भारत के साथ ग्रीक सम्बन्ध गहरे हुए। इस काल में ब्राख्मी के आधार पर भारत पर ग्रीकों के अनेक आक्रमण हुए। इन आक्रामकों में मुख्य देमित्रियस मिनान्दर और युक्रेतीदिज थे।" सुप्रसिद्ध प्राचीन इतिहासकार जुस्तिन ने देमित्रियस को भारत का राजा Rex Indorum कहा है। अपने जामाता सेनापति मिनान्दर की सहायता से देमित्रियस ने मौर्य शासित भारत पर विकट आक्रमण किया और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। भारत में उसने अपने राज्य खड़े किए। कपिसी (काफिरिस्तान), पुष्कलावती (पेशावर), तक्षशिला, शाकल (स्यालकोट) में अनेक यवन राज्य निर्मित हुए। देमित्रियस ने युथिदेमिया आदि नगरों का निर्माण किया। यवन और हिन्दू साथ-साथ रहने लगे। यवनों के स्वतन्त्र नगर भी थे और हिन्दू नगरों में स्वतन्त्र यवन मुहल्ले भी, जहाँ ग्रीक महाकाव्य यूलीसिज और इलियड पढ़े जाते थे। अफलातून (प्लेटो) और अरस्तू के दर्शन विचारे जाते थे। इस्कीलस व मिनान्दर के नाटक खेले जाते थे। भारतीय दर्शन और ज्योतिष पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। जिसे पौलिश और रोमक सिद्धान्तों का नाम दिया गया। मूर्तिकला में ग्रीक प्रभाव के गांधार शैली की नई तकनीक ही चल पड़ी।[2]

सांस्कृतिक विलयन की जो प्रथा द्रविड़ और आर्य जनजातियों में प्रारम्भ हुई वह रामायण और महाभारत जैसी कलाकृतियों से होती हुई ग्रीक-भारतीय समन्वय में 'युगपुराण' में नया अध्याय रचती है। रामायण हो या इलियड, महाभारत हो या ओडीसी कृति..., युगों-युगों तक वे भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यबोधी मूल्यों का आधार रही हैं। यही प्रविधि मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में इस्लाम द्वारा प्रवर्तित—सूफीज्म (वहतत ए वजूद) और भारतीय अद्वैतवाद के सापेक्ष सन्दर्भों में कबीर, जायसी—ख्वाजा बन्देनवाज—(कदीम दक्खिनी हिन्दी-उर्दू), नानक—(पंजाबी), सर्वज्ञम—(कन्नड़) और वेमन्ना (तेलुगू) की कृतियों में उजागर है। पारसी—मध्ययुगीन दौर में ईरानी प्रभाव जहाँ मसनवी गजल, रूबाई—शिल्प को तरजीह देते हैं वहाँ लोक चेतना और लोकेषणा—दोहा-चौपाई, कुण्डली-सवैया मुक्तक, लावणी, ख्याल और ख्यात आदि में उभरती है। यह शास्त्र और लोक की सनातन टकराहट और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का प्रमाण है।

सामान्यतः भारतीय साहित्य सामासिक संस्कृति का साहित्य रहा है। आर्य और अनार्य संस्कृति का मिश्रित रूप, मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक शक्तियों का मिश्रित स्वरूप, अध्यात्म और भौतिकवाद की सरहदों के बीच संक्रमण बोध का जटिल स्वरूप रहा है। इसकी सांस्कृतिक विशिष्टता के प्रमुख तत्त्व हैं

सामाजिक-आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, समन्वय भावना, सांस्कृतिक सौमनस्यता, जातीय चरित्र में निरपेक्षता, कभी-कभार करुणा, दया, विश्वास जैसे मूल्यों का आग्रह, लोक और शास्त्र के मिले-जुले रूप की प्रक्रिया। वैसे संस्कृति मूलतः किसी देश-प्रदेश विशेष के लोक व्यवहार, जीवन शैली और आस्था-विश्वास का प्रायोगिक स्वरूप है। जिसमें मानवीय जीवन व्यवहार के सत्-असत् चरित्र सम्बन्धी उपक्रम भी शामिल हैं।

कहना न होगा कि क्लासिकल स्तर पर एक ओर ज्ञानेश्वर द्वारा रचित 'ज्ञानेश्वरी' (13वीं शती), तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' (17वीं शती) और जायसी कृत 'पद्मावत' है तो लोकचेतना के स्तर पर मुल्ला वजही कृत 'सबरस' (दक्खिनी हिन्दी) और भूषण द्वारा रचित शिवाबावनी तथा दक्खिनी हिन्दी के शाह तुराब की मनसमझावन (दक्खिनी हिन्दी) कृति है।

जवाहरलाल नेहरू अपनी 'भारत की खोज' नामक पुस्तक में संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"समृद्ध सभ्यता में संस्कृति का विकास होता है। उसमें दर्शन, नाटक, गणित विकसित होता है। यूँ तो संस्कृति शब्द बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची शब्द है और सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थी स्वरूप।" वास्तव में सभ्यता बाह्य क्रियात्मक स्वरूप है और संस्कृति विचारधारात्मक परिणाम है। सामान्य जनजीवन में काल और परिवेश के अनुकूल प्रत्येक देश की जनजाति की अपनी विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति होती है।

भारतीय संस्कृति में आर्य और अनार्य तत्त्वों का सम्मिश्रण विगत पाँच हजार वर्षों से जारी रहा है। महाभारत के रचनाकार व्यास को भी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में युद्धोपरांत वर्णसंकर-व्यवस्था के पनपने की आशंका रही है। अतः विभिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों, जाति-उपजाति व वर्ग-विशेष संरचना में जन्म, विवाह, मृत्यु और अन्य सामाजिक उपक्रमों के षोड्ष संस्कारों में विभिन्नता होना स्वाभाविक है। अतीत में घटी हुई घटना दरअसल इतिहास का इतिवृत्त होती है, पर उसका ऋषिवत् विश्लेषण दर्शन और इतिहास के संक्रमण को खंगालना है, संस्कृति के गर्भ की गहराई में विचरना है।

आर्य कबीलों को आक्रमण के दौरान, विस्थापन और आवास के दौरान द्रविड़ों की, भारतीय मूल के निवासियों की उन्नत अवस्था, शहरी विकास की सभ्यता का, वैचारिक साधना का सामना करना पड़ा। डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि "वैदिक धर्म ने पुराने पंथों के प्रकारों और आचारों को अपनाया, उन्हें आत्मसात किया और उन्हें जारी रखा। उन्हें अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित कर लिया। कालान्तर में आर्य परम्पराओं ने द्रविड़-सैन्धव और अन्य देसी जातियों के सामाजिक जीवन से इतना कुछ ले लिया था कि अब मौलिक आर्य तत्त्वों को अन्य तत्त्वों से अलग रखना कठिन हो गया है।"[5]

काल-समय और स्पेस के अन्तरावलम्बन में "आर्येतर तत्त्व, नस्ल व संस्कृति सम्मिश्रण में अधिकाधिक प्रधानता ग्रहण करते गए हैं।"[4]

आर्यजन प्रारम्भ में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के विध्वंस काल के दौरान अनार्य-सैन्धव जनों को घृणावश 'अनासाः', 'मृधवाचा', 'शिश्नदेवाः', 'अयज्वन', अदेवयु, दास, दस्यु आदि कहते रहे हैं। पर अथर्ववेद के सृजन काल तक वे भाव पूजा और जीवन के दृष्टिकोण में सैन्धवों द्वारा विजित हो चुके थे। उनका धर्म नवधर्म के संयोग से समन्वित हो चुका था। "**अथर्ववेद** आर्यों और प्राचीन सैन्धवों का सम्मिलित पैतृकी सिद्ध हुआ। जन्तर-मन्तर, टोना-टोटका, झाड़-फूँक इस वेद के प्राण थे और आर्यों के एक रूढ़िवादी दल ने एक लम्बे और उसके विविध स्तरों से ग्रन्थित **ऋग्वेद, यजुर्वेद** और **सामवेद** को ही **'त्रयी'** के नाम से वे जानते रहे। निस्सन्देह **अथर्ववेद** अपने विषय में उन तीनों से सर्वथा भिन्न था। योग की परम्परा थी जिसका पश्चात कालीन आर्यों ने विकास किया और जिसे कालांतर में उन्होंने दर्शन तक का पद प्रदान किया जो प्राचीन सैन्धवों (द्रविड़ों) की धर्म-व्यवस्था का एक विशिष्ट अंग था।"[5]

दरअसल आर्य आदिवासियों द्वारा आर्येतर संस्कृति और परम्परा का आत्मसात किया जाना एक लम्बी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया का परिणाम है। आर्यों और द्रविड़ों के सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में विकास और आत्मसातीकरण की दीर्घ प्रक्रिया के परिणामस्वरूप **ब्रह्मा, विष्णु** (आर्य) और **शिव-पार्वती** (द्रविड़) की **त्रयी** कर्मकाण्ड, स्थापत्य और आराधना रूप में स्वीकृत हुई है। इस सांस्कृतिक विलयन के स्वरूप, प्रक्रिया और परिणाम की विवेचना गहराई से के.दामोदरन, राधाकमल मुकर्जी, भगवतशरण उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन, डी.डी. कौशाम्बी रवीन्द्रनाथ टैगोर, रामविलास शर्मा और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय आदि ने सम्यक् रूप से की है।

भारतीय साहित्य दर्शन में भौतिकवादी चिन्तन का उदय वैदिक प्राकृतिक धर्म और उससे सम्बन्धित कर्मकाण्डों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया रूप में हुआ। राधाकृष्णन के विचारानुसार भौतिकवाद उतना ही पुराना है जितना दर्शन। यह बुद्ध से पूर्व के समय में मौजूद था। इसके बीजाणु ऋग्वेद के सूत्रों में मिलते हैं। (हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, खण्ड 1, पृ. 277) ऋग्वेद के वृहस्पति भारतीय भौतिकवाद के आदि-प्रणेता माने जाते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम पदार्थ को परम सत्य घोषित किया था। वह और उनके शिष्य ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करते थे। वे आत्मा की अमरता और मृत्यु के बाद के जीवन की अवधारणा के भी विरोधी थे।[6] यास्क ऋषि अपने **'निरूक्त'** में एक कौत्स का उल्लेख करते हैं जिसने वेदों का यह कहकर पर्दाफाश किया था कि वे निरर्थक और पारस्परिक विरोधों से परिपूर्ण हैं। (के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 94)

भारतीय धर्म-दर्शन, इतिहास और संस्कृति, साहित्य सृजन और वैचारिक परिप्रेक्ष्य में न केवल आर्य और द्रविड़ों का अन्तःसंघर्ष उपलब्ध होता है और न ही केवल भाववादी और भौतिकवादी विचार सरणियों का अन्तरावलम्बन उपलब्ध होता है बल्कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग का सत्ता-संघर्ष और वर्चस्व का प्रतिरोधी और आत्मसंघर्षी संसार भी उजागर होता है। विचारधारा और दर्शन के क्षेत्र में ब्राह्मण-वर्ग ने अगर **ब्राह्मण ग्रन्थ** रचे हैं तो क्षत्रियों ने उनके कर्मकाण्ड और वर्चस्व के प्रतिरोध में **उपनिषद** रचे हैं।

भगवतशरण उपाध्याय और के.दामोदरन के साक्ष्य से ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद सृजन की थाह ली जा सकती है। पूर्व वैदिक काल में ही वर्णों के आधार पर **आर्थिक** पेशे के दावेदारों के आपसी स्वार्थ टकराने लगे थे। "यज्ञ और कर्मकाण्ड की तकनीक का असीम विकास व विस्तार करके ब्राह्मणों ने उन्हें अपने बीजक सदृश्य ग्रन्थों में रखा और इन्हें अपने वर्ग के नाम पर **ब्राह्मण** कहा। क्षत्रियों ने इन ब्राह्मण ग्रंथों के उत्तर में अपने उपनिषद् प्रस्तुत किए जो जप-तप, कर्मकाण्ड, देवता, यज्ञ-अनुष्ठान, पशुबलि आदि के विरोध में थे। इन उपनिषदों की परम्परा को **गीता** ने समाप्त करके, सशरीर आभीर-क्षत्रिय **कृष्ण** को आर्य-देवता इन्द्रादि के स्थान पर सर्वमान्य **वैष्णव** अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया। उपनिषदों के अमूर्त **'ब्रह्म'** के ऊपर इस अन्तय **गीतोपनिषद** की यह घोर सांस्कृतिक विडम्बना मानी जाएगी।"

भारतीय दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में **ब्राह्मण वर्चस्व** और **क्षत्रिय प्रतिरोध** के अन्तःसंघर्ष की दास्तान कम लोमहर्षक नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा' नामक कृति में इस वैचारिक-दार्शनिक संघर्ष की अनुपम दास्तान रची है। भगवतशरण उपाध्याय के विचारानुसार उधर वशिष्ठ और विश्वामित्र, परशुराम और देवव्रत, जनमेजय और तुस्कावषेय की संघर्ष परम्परा चलती रही। जनमेजय की क्षत्रिय परम्परा अश्वपति, कैकेय, प्रवाहण, जैबलि, अजातशत्रु, कौशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध, मौर्य राज्य आदि ले चले। उनका विरोध श्वेतकेतु, जाबालि, राक्षस (महानंद का मंत्री), पतंजलि, पुष्यमित्र, शुंग और आंध्र सातवाहनों आदि ने किया। द्वितीय शती ईसवी पूर्व भारत में तीन साम्राज्य स्थापित हुए—वरदा से सिन्धु तक शुंगों के, दक्षिणापथ में आन्ध्र सातवाहनों के और आसमुद्र कलिंग में चेदि वंशियों के। तीनों ब्राह्मण वंशज थे। मगध में शुंगों के बाद काण्यावन आए। काण्यावन के बाद आन्ध्र सातवाहन। तीनों ब्राह्मण। इसके बाद जब शकों ने मध्य देश को आक्रान्त कर लिया तब ब्राह्मण न ब्राह्मण रहे और न क्षत्रिय ही क्षत्रिय।'

भारतवर्ष पर एक ओर विभिन्न जनजातियों के कबीलों ग्रीक, हूण, तुर्क, शक, कुषाण, मंगोल, तातार, गुर्जर, आभीर और अरबों-मुगलों के आक्रमण होते रहे

और दूसरी ओर वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिरोध वैष्णव-भागवत धर्म के विपक्ष में जैन-बौद्ध दर्शन के आविर्भाव तथा लोकायत, चार्वाक मत-मतान्तरों में जन-जीवन संक्रमणशील स्थिति में कम संत्रस्त नहीं रहा।

वेदत्रयी में जहाँ प्राकृतिक शक्तियों का गुणगान एवं भौतिकवादी विचारों, भौतिक उत्कर्ष की कामनाएँ हैं। वहाँ उपनिषद में सकारात्मक मानवीय एषणाएँ उपलब्ध हैं। श्वसेन उपनिषद में जहाँ भौतिकवादी विचारों का प्राधान्य मिलता है कि "पदार्थ के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है तथा इस संसार से परे कोई दूसरा संसार नहीं है। न तो कहीं कोई अवतार है, न ईश्वर है, न स्वर्ग है, न नरक है। सभी परम्परागत धार्मिक साहित्य अहंकारी मूर्खों की करतूत है। **प्रकृति** जो मूल उद्गम स्रोत है और **समय** (काल) जो संहारक है ये ही सर्वोपरि **नियंता** हैं। मनुष्यों को सुख या दुख बाँटते समय न तो उनके पुण्यों पर ध्यान देते हैं, न पापों पर।"[8] बौद्ध और जैन ग्रन्थों में ऐसे कितने ही **भौतिकवादी** दार्शनिकों का उल्लेख है जो बुद्ध और महावीर के समय में (ईसा पूर्व 6वीं शती) और उनसे भी पहले मौजूद थे। जिनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय पुरान कास्सप मखलि गोसाल, अजीत केश कंबलि, पकिध कच्चायन निगंठ नतपुत और संजय वेलतिपुथ थे।

भारतीय भाषा साहित्य में सिद्धों-नाथों, चार्वाक-लोकायत आदि साधकों की निर्गुण साधना में बाह्याडम्बर विरोधी अवधारणाओं में अनुस्यूत है तो कहीं मारन, मोहन और उच्चाटन में उजागर। सुरत-निरत, योगसाधना और कुण्डलिनी जागरण की जटिल-उलटबाँसी भी कम रोमांचक नहीं है। कहीं सगुण भक्ति आन्दोलन की दीर्घ परम्परा अवतारवाद, षोडशोपचार, नवधा भक्ति, माधुर्य भक्ति, दास्य भक्ति, सखा भाव की भक्ति आदि में पुनर्जीवन प्राप्त करती है। भारतीय जन-जीवन में कहीं शैव-वैष्णव परम्परा की टकराहट भी रही है तो कहीं निर्गुण-सगुण का समन्वयात्मक भाव भी समा रहा है। बौद्ध-दर्शन भारतीय सीमा से परे जापान, जावा, सुमात्रा, लंका, इण्डोनेशिया में प्रश्रय पाता है तो जैन दर्शन भारतवर्ष के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण के सीमान्तों में, आम जनता में सक्रिय है। बौद्ध-दर्शन से उपजे हीनयान, महायान, वज्रयान, तन्त्र-साधना, भैरवी-चक्र, शैव-शाक्त परम्परा के नए क्षितिज पंचमकारों के साथ नए आयाम तलाशते हैं तो इस्लामी धर्म दर्शन का तसव्वुफ-सूफी साधना का भाव शरीयत-तरीकत से परे जाकर मौसिकी (संगीत) और जनाश्रय में आश्रय पा लेता है। ईसा मसीह और मरियम में आस्था रखने वाले भी भारतीय साधक हैं तो अग्निपूजक पारसी की भारतीय मनीषा के कम दावेदार नहीं हैं। सिक्ख हो या नव बौद्ध, वणिक वर्ग हो या निम्न वर्ग...वे दरअसल भारतीय संस्कृति की नीव में धँसे हुए जीवन्त स्मारक हैं।

भारतीय स्थापत्य, चित्रकला, संगीत एवं नृत्यशास्त्र में विभिन्न जनजातियों

ने अपने ऐतिहासिक काल, समय और स्पेस के अन्तराल में कहीं-कहीं अमिट हस्ताक्षर रचे हैं। जाति, क्षेत्र, कौम, मजहब-धर्म और दर्शन के धरातल पर हम अपनी आन्तरिक-संकीर्ण सीमा से ऊपर उठकर 'ज्ञानेश्वरी' के सर्जक ज्ञानेश्वर सूफीवाद के दावेदार ख्वाजा बन्दे नवाज, अद्वैतवाद के प्रेरक शंकराचार्य, संगीत साधक तानसेन, तत्त्व-मनीषी दाराशिकोह और वहतत-ए-वजूद के हस्ताक्षर गालिब की अभ्यर्थना कर सकते हैं। अगर कोणार्क, खजुराहो, एलोरा-अजन्ता, हल्लीबेड व बादामी की गुफाएँ-मूर्तियाँ, वैष्णव-शैव और बौद्ध-जैन धर्म दर्शन तथा साहित्य-संस्कृति के अनुस्मारक हैं तो ताजमहल, जामा मस्जिद, चारमीनार, गोलकुण्डा किला, देवगिरी का परकोटा, बीजापुर की गुम्बद ईरानी फारसी तथा भारतीय मुगल शैली के स्थापत्य रूपी धरोहर हैं।

कर्नाटक के सर्वज्ञम हों या आंध्र के वेमन्ना, महाराष्ट्र के नामदेव हों या उत्तर प्रदेश के कबीर, पंजाब के नानक हों या गुजरात के दादू, तमिलनाडु, केरल के आलवार हों या नायनार संत...ये सभी अपनी-अपनी विचारधारा और प्रतिबद्धता में जन-चेतना, लोक-चेतना और उदात्त मानवीय मूल्यों के पक्षधर गायक रहे हैं। यही हश्र गुजरात के अक्खा, राजस्थान के दादू दयाल और असम के शंकर देव आदि का रहा है। अपनी युगीन सीमाओं में कर्नाटक की अक्क महादेवी, आन्ध्र सीमाप्रान्त की अण्डाल देवी तथा मध्ययुगीन दौर की मीरा और मुमताज ने कभी पितृसत्तात्मक समाज के बरक्स **स्त्री विमर्श** के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य को महत्त्वपूर्ण योगदान में सिरजा है।

भारतीय साहित्य के सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रायः अतीत और वर्तमान दौर में—**त्रिदेव** (ब्रह्मा, विष्णु और महेश), त्रिलोक (स्वर्ग, नरक और पृथ्वी लोक) और **त्रिगुण** (सत्व, रज और तम) की चर्चा मिलती है। विष्णु और ब्रह्मा तो आर्य जाति के पुरोहित वर्ग की कल्पना, सृजना, मेधा और संस्कृति की उपज हैं और शिव दरअसल आर्य सभ्यता के आक्रमण से पूर्व द्रविड़ सभ्यता में शिव, देवी-माता, लिंग और पवित्र ऋषभ (बैल) की पूजा प्रचलित थी। जिसके अवशेष हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के खण्डहरों में पुरातत्व विभाग ने तलाश कर लिए हैं।

कालान्तर में ब्रह्मा को सृजन, विष्णु को पालन-पोषण तथा महेश (शिव) को विनाश व मृत्यु का देवता स्वीकार कर लिया गया। कहीं-कहीं अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति में शिव-पार्वती का समन्वयात्मक रूप मिलता है। कहीं-कहीं हरि-हर का संयुक्त देवत्व रूप प्रतिमा व अर्चना पद्धति में मिलता है। अजीब गोरखधन्धा यह है कि नृत्यशास्त्र के केन्द्र में द्रविड़ देवता शिव और पार्वती का लास्य रूप है तो उपासना-अर्चना में आर्य संस्कृति के ब्रह्मा व विष्णु हैं। पौलत्स्य ऋषि की आर्य पत्नी से व्युत्पन्न सन्तान कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्षरूप में समादृत हैं और अनार्य पत्नी से उत्पन्न रावण दक्षिण के द्रविड़ों में आराध्य देवता है। तमिलनाडु

में द्रविड़ मुनेत्र कषगम आज भी सक्रिय है। भारतीय दर्शन व संस्कृति का विलक्षण स्वरूप सर्वाधिक सक्षम और पावन अभिव्यक्ति के रूप में (7-8 ईसवीं में) प्राप्त होता है। जहाँ शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक त्रिमूर्ति उत्कीर्ण है। इस प्रतिमा में बीच का मुख स्वयं प्रभासित निरपेक्ष और पारलौकिक तत्पुरुष शिव का है। दाहिना मुख उग्र भृकुटि ताने हुए तथा वैराग्य एवं विनाश की भावना से उद्भुत अघोर भैरव का है, और बायाँ मुख है शिव की संगिनी परम सौन्दर्यमयी आभूषण युक्त उमा का, जो अपनी चपल सृजनशीलता प्रेम और करुणा के बल पर लास्यमयी है।[9] यही उमा प्रकारान्तर से दुर्गा, तारा, कात्यायनी और काली का प्रतीकात्मक रूप रही है। जिसे कतिपय आलोचक मातृसत्तात्मक परम्परा से अनुस्यूत अवधारणा मानते हैं। जो भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में वर लक्ष्मी (आन्ध्र), महिसम्मा (आन्ध्र, कर्नाटक), सातेरी माता (गोवा, कोंकण), जीन-सारंग सा माता (मारवाड़ राजस्थान), चामुण्डी (मैसूर), कुमारिका (केरल) आदि के रूप में पूजित है।

भारतीय संस्कृति अपने वर्तमान स्वरूप में एक संश्लिष्ट संस्कृति है। जिसे हम सही अर्थों में अधिक तथा मिश्रित संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति के वर्तमान परिदृश्य में द्रविड़ देवी-देवता (शिव, पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, कालभैरव आदि), आर्य देवी-देवता (इन्द्र, कुबेर, वरुण, सूर्य), आभीर देवता (कृष्ण), वैष्णव भागवत (राम-कृष्ण), जैन-बौद्ध (पार्श्वनाथ, महावीर, गौतमबुद्ध), पारसी (अग्निपूजन), मुस्लिम इबादत (शरीयत, तरीकत, तसव्वुफ, हमीदिया), क्रिश्चियन संस्कृति (ईसा, मरीयम, जेहोवा) का समवेत स्वरूप सक्रिय है।

वर्तमान दौर में शैक्षणिक विकास, आर्थिक संक्रमण और वैश्वीकरण वाली प्रतिस्पर्द्धा के अस्तित्व सन्दर्भ में हम लोग एक जन-जाति परिवर्तित धर्म-संस्कृति और बहुभाषीय स्थिति में जी रहे हैं। संचार माध्यमों के प्रचार-प्रसार ने कस्बे और शहर, महानगर और राजधानी के पार्थक्य को कम किया है। पर्यटन और विकासात्मक स्थिति ने हमें वैश्विक सन्दर्भों में सोचने के लिए विवश किया है। आज से लगभग 3500 से 4000 वर्ष पूर्व **श्रीमद्भगवदगीता** में युद्ध की विभीषिका, वर्ण-संकर समाज के विकास तथा मानवीय मूल्यों और अस्तित्व-संघर्षी जिजीविषा की चर्चा हुई है वह सांस्कृतिक चिन्तनधारा और समकालीनता के अन्तर्विरोधी स्वर को रूपायित करती है।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वित भाव ही वर्गातीत वाला संज्ञान ही हमें पूर्ण समग्रता प्रदान कर सकता है। केरल, कलकत्ता, बम्बई-दिल्ली में औद्योगिक विकास, शैक्षणिक प्रगति ने हमें जाति-वर्ण, वर्ग और अहं भाव पर नए ढंग से विचारने के लिए बाध्य किया है। अन्तर्जातीय विवाह और स्वचेतना के विकास

संज्ञान ने भारतीय जन समाज को केवल हिन्दुत्व या हिन्दू वाले बोध से ग्रस्त नहीं होने दिया है। उसमें आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुस्लिम, सिख-पारसी, क्रिश्चियन और नव बौद्ध सभी परिगणित होते हैं। समाज सुधार आन्दोलनों, नवजागरण सम्बन्धी प्रयत्नों राष्ट्रीय अस्मिता के संघर्ष ने भारतवासियों को **'सांस्कृतिक समग्रता'** में सोचने के लिए बाध्य किया है।

रामविलास शर्मा ने भारतवर्ष के निवासियों के लिए हिन्दी जाति शब्द का प्रयोग किया है। जिसका आशय हिन्दुस्तान में निवास करनेवाली विभिन्न जनजातियों का सहअस्तित्व भाव है। दर्शन और ज्ञान, लोक और शास्त्र, संस्कार और आस्था, यथार्थ और परिवेश के संक्रमणशील परिप्रेक्ष्य में हम क्षेत्र, भाषा, प्रान्त की सरहदों के अन्तरावलम्बन में शिवराम कारंत कृत मातृसत्तात्मक आस्था के उपन्यास **'मूकज्जी'** की अभ्यर्थना करते हैं तो कुर्रतुल ऐन हैदर के कालजयी उपन्यास **'आग का दरिया'** में अभिव्यक्त दार्शनिक व सांस्कृतिक सन्दर्भों को जानना चाहेंगे जिसमें वैदिक संस्कृति व चार्वाक् दर्शन की टकराहट से लेकर मुगल काल के जाति, वर्ग एवं वर्ण के संक्रमण और विदेशी भावभूमि के प्रदेश लन्दन तक उसके पात्र एक कालयात्री की तरह विभिन्न जन्मों में विचरण करते हैं।

भारतीय साहित्य और संस्कृति के नाभिकेन्द्र बंगाल में रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ नजरूल इस्लाम भी समादृत हैं, जाति-वर्ण-वर्ग की सीमाओं से परे जो मध्ययुगीन दौर की मीरा, सहजोबाई, जनाबाई के समानान्तर अक्क महादेवी और अण्डाल भी उत्तर व दक्षिण प्रांत में कम सक्रिय नहीं रहे हैं। मराठी के शिवाजी सावंत हों या कन्नड़ के भैरप्पा, दोनों रचनाधर्मी **कर्ण** के शौर्य पौरुष और विषम जीवन की तीक्ष्णता को 'मृत्युंजय' और 'पर्व' में उकेरते हैं, यथार्थ स्वरूप में उसके संघर्ष को चीन्हते हैं। नवजागरण के दौर में **गालिब** काबा और कलीशा (कलश) दोनों की सांस्कृतिक विरासत को सहेजते हैं, वहाँ ब्रिटिश उपनिवेश का **प्रतिरोध** प्रेमचन्द, फकीर मोहन सेनापति, निराला, मखदूम मोहियोद्दीन, सुबह्मण्यम भारती और फ्रांसीस लुईस गोमिश और महाबलेश्वर सैल अपने रचनाकर्म में करते हैं।

संस्कृत और प्राकृत-पालि-अपभ्रंश की सहवर्ती परम्परा

भारतीय इतिहास और संस्कृति के विकास में वर्ग, वर्ण का संघर्ष ही मुख्य कार्य-कारण सम्बन्ध रहा है। इसे स्वीकार करने में किसी मार्क्सवादी आलोचक को संभवतः आपत्ति न होगी। इसी डायलेक्टिक्स (द्वंद्वात्मकता) को आधार बनाकर संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की विभास एवं सहवर्ती प्रक्रिया का निरूपण किया जा सकता है।

भारतीय इतिहास और संस्कृति की विगत अनुच्छेद वाली व्याख्या में प्राक् वैदिक संस्कृति, वैदिक आर्य संस्कृति और द्रविड़-सैन्धव संस्कृति की टकराहट को

विवेचित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ अगर ब्राह्मणों द्वारा रचे गए हैं तो अधिकतर उपनिषद क्षत्रियों ने रचे। भगवतशरण उपाध्याय ने सांख्य दर्शन का आविर्भाव सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवीं पूर्व माना है। कारण बौद्ध दर्शन के 'क्षणवाद' और परिवर्तनशीलतावाद पर सांख्य दर्शन का पूर्ण प्रभाव है। हमें यह भी भूलना न चाहिए कि "बौद्ध दर्शन के ग्रंथ कालान्तर में अधिकतर ब्राह्मणों द्वारा ही रचे गए। इन दार्शनिकों में वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, दिङ्नाग, वसुबंधु, असंग और धर्मकीर्ति मुख्य थे। संघर्ष और सहवर्ती परम्परा में उन्होंने अन्य ब्राह्मण दर्शनों का उत्तर दिया परन्तु स्वयं ब्राह्मण होने के नाते वे उनके प्रभाव से पूर्णतया वंचित न रह सके।"

अश्वघोष के बुद्ध चरित्र से स्पष्ट है कि "बुद्ध ने आलार कालाम के आश्रम में कुछ काल तक सांख्य दर्शन की दीक्षा ली थी। परन्तु उसकी सूझ-समझ और व्याख्या से असंतुष्ट रहने से आश्रम छोड़ दिया पर उसके संस्कार को वे मिटा न सके।" भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक परम्परा में वेद से ब्राह्मण (आरण्यक) ब्राह्मण से उपनिषद, उपनिषदों से सांख्यादि ब्राह्मण दर्शन तथा ब्राह्मण दर्शनों से बौद्ध दर्शन और उनमें पारस्परिक संघर्ष प्रक्रिया, सिद्धान्त प्रजनन, दार्शनिक प्रगति के द्वंद्वात्मक अंश सक्रिय रहे हैं। ब्राह्मण कर्मकाण्ड यज्ञ परम्परा के प्रतिरोध में बौद्ध-जैन धर्म की अहिंसा, इन्द्रिय निग्रह और मोक्ष-निर्वाण की नव चिन्तन परम्परा और उन सबके अंत में भगवद्गीता, जो उपनिषदों में अन्तिम चरण है। क्योंकि कठोपनिषद की उर्ध्वमूलमध शाखा, राजगुह्यम राजविधा परम्परा प्राप्त सिद्धान्त—फिर भी वह नहीं—क्योंकि सांख्य योग का समन्वय अदार्शनिक भक्ति का पुट और औपनिषदिक अमूर्त ब्रह्म के स्थान पर; परन्तु **ब्राह्मणेत्तर भौतिक शरीर क्षत्रिय कृष्ण** की प्रतिष्ठा हुई।"[10]

भारतीय संस्कृति व साहित्य में जहाँ भाषा-साहित्य के स्तर पर अभिजात्य वर्ण व ब्राह्मण की भाषा संस्कृत रही है वहाँ बौद्ध-जैन क्षत्रिय दर्शन के प्रवर्तकों ने जनभाषा पालि, प्राकृत-अपभ्रंश को अपनाया है। जिसे हम थीसीस, एण्टी-थीसीस और सिन्थेसिस वाद-विवाद-संवाद की सहवर्ती प्रक्रिया मान सकते हैं। दरअसल बौद्ध आचार्यों ने अपने धर्म और दर्शन को व्यापक एवं लोकप्रिय बनाने के लिए जो साधन अख्तियार किए स्वयं उनमें द्वंद्वात्मक प्रवृत्ति छिपी थी। सार्वजनीन बोली पालि का प्रयोग और **संघ निर्माण** वस्तुतः ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था और एकवर्गीय संस्कृति के ऊपर अमोघ प्रहार थे। जिससे ब्राह्मणों की भाषा और वर्ण-व्यवस्था क्षत-विक्षत हुई। कालान्तर में जैन आचार्यों ने भी जनभाषा प्राकृत व अपभ्रंश को जनसम्पर्क हेतु अपनाया।

सुधी जन जानते हैं कि यदि बुद्ध की प्रचार-भाषा संस्कृत रही होती तो उनके शिष्यवर्ग सम्भवतः ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते। परन्तु उसके पालि होने

के कारण साधारण जनता विशेषकर निम्नवर्ग की जनता भी उनकी अनुयायिनी हुई। उनके संघ ने जो ऊँच-नीच सभी को समान रूप से अपनी प्राचीरों के भीतर स्वीकार किया, उसमें ब्राह्मण क्षत्रिय वर्ग-वर्ण के साथ निम्न वर्ग-वर्ण के लोग भी आ मिले। यहाँ सामाजिक अन्तर्विरोधों एवं डायलेक्टिक्स की जड़ें तलाशी जा सकती हैं। बौद्ध धर्म और भागवत धर्म के संयुक्त प्रयासों ने ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था को चुनौती ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से देनी प्रारम्भ की थी। भागवत धर्म में काफी विदेशी विजातीय भी सम्मिलित हुए। द्वितीय सदी ईसवीं पूर्व के अंत में तक्षशिला के यवन (ग्रीक) राजा अंतलिखिद ने शुंगवंशीय काशिपुत्र भागभद्र के पास विदिशा के दरबार में अपना ग्रीक राजदूत हिलियोदोर भेजा। जो वैष्णव होकर बेसनगर में विष्णु के नाम पर स्तम्भ खड़ा करवाता है। निसन्देह बौद्ध संघ और वैष्णव काया का ऊपरी भाग अभिजात कुलीय था। पर उसका शरीर (Rank and file) निम्नवर्गीय जनता का था।

प्रसंगवश भारतीय साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक दृष्टि को अपनाते हुए कतिपय पाश्चात्य प्राच्यविदों ने "भारतीय साहित्य के नाम पर वैदिक तथा संस्कृत या फिर मध्ययुगीन साहित्य के इतिहास के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखा है।" आलब्रेख वेबर (1852), विंटरनिट्ज (1907), एडविन आर्नल्ड (1884), आर.डब्ल्यू. फ्रेजर आदि की पुस्तकों के नाम इस सन्दर्भ में लिए जा सकते हैं। आर.के. दासगुप्त ने **मैक्समूलर** की पुस्तक **'हिस्ट्री ऑफ एनशिंएट संस्कृत लिटरेचर'** के सन्दर्भ में कहा है कि "अधिकतर यूरोपीय इतिहासकारों ने प्राचीन साहित्य के प्रति आलोचनात्मक प्रतिक्रिया के प्रदर्शन के स्थान पर **पुरातत्वीय दृष्टिकोण** का ही प्रसार किया है।" (1972 : 430) इन विद्वानों ने जब बाद में आधुनिक **भारतीय साहित्य के इतिहास** की रचना की ओर ध्यान दिया "तब इन्होंने अपनी दृष्टि को भाषा विज्ञान, व्याकरण तथा शब्दकोशों तक ही सीमित रखा और साहित्य के विश्लेषण के प्रति अधिकतर उदासीनता दिखाई।"" पर रामविलास शर्मा, राहुल सांकृत्यायन, राधाकमल मुकर्जी और इन्द्रनाथ चौधुरी आदि ने भारतीय साहित्य की डायलेक्टिक्स-द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को विभिन्न कोणों से देखने की पेशकश ही नहीं रची है बल्कि अपने युगीन सन्दर्भों के विश्लेषण में सतर्कता अपनाई है।

ऋग्देव की भाषा पद्यमयी है परन्तु इसके पद्यों के छन्द उत्तर-काल के अलंकारशास्त्र की पद्धति का अनुसरण नहीं करते। किसी भी ऐतिहासिक कालखंड में सामान्यतः भाषा के दो रूप प्रचलित होते हैं। अभिजात्य वर्ग की शिष्ट भाषा—जो साहित्य सृजन का भी आधार होती है और दूसरी जनभाषा—लोकाचार-लोकव्यवहार की। जो भाषा शिष्ट लोगों की रही है वह पाणिनी के **'संस्कृत'** का पूर्व रूप है। स्वयं संस्कृत संज्ञा होते हुए भी एक प्रकार का विशेषण है—अर्थात् संस्कार की हुई भाषा।

विद्वानों में मतैक्य नहीं है कि पहले प्राकृत का जन्म हुआ या संस्कृत का? कुछ तो प्राकृत को संस्कृत से प्रादुर्भूत मानते हैं और कुछ संस्कृत से प्राकृत को। स्वयं प्राकृत शब्द में भी 'संस्कृत' पद की व्युत्पत्ति के निरोध में स्वाभाविक, प्राकृतिक, परिमार्जित और असंस्कृत भाव प्रसुप्त है। अतः यह मान लेना आवश्यक है कि **'प्राकृत' पहले** की है और **संस्कृत बाद** की। प्राकृत की ही संस्कारयुक्तशिष्ट भाषा। समय-समय संस्कृत और प्राकृत भाषा के स्वरूप टकराते रहे हैं और फिर से अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट होकर प्राकृत के अनेक शब्द रूप बनते-बिगड़ते रहे होंगे।

भगवतशरण उपाध्याय ने 'संस्कृत के विरुद्ध प्राकृतों का विद्रोह' नामक अभिलेख में यह धारणा व्यक्त की है कि "**पाणिनी** के पूर्व के वैयाकरणों ने तो 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग तक नहीं किया है। (ईसवीं पूर्व-पाँचवीं सदी में ही पाणिनी के संस्कृत-व्याकरण का स्वरूप रचा)"। सर्वप्रथम इसका प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। **दण्डी** ने छठी सदी ईसवीं में अपने व्याकरण में 'संस्कृत' शब्द का जन-व्यवहार जनसाधारण की बोली प्राकृतों के विरोध में किया है। **यास्क** और दूसरे प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने और वैयाकरणों ने **वैदिक संस्कृत** से **इतर** 'संस्कृत' को **'भाषा'** कहा है। उनके और वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि इसे संस्कृत की भाषा न कहकर वे प्रचलित बोली जाने वाली भाषा की ओर संकेत करते हैं। **पतंजलि** ने लौकिक संस्कृत की ओर संकेत किया है। यास्क और पाणिनी दोनों बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। कात्यायन भी बोली सम्बन्धी स्थान विशेष के परिवर्तनों की बात कहते हैं और स्वयं पतंजलि ने ऐसे शब्दों की गणना की है जिनका व्यवहार स्थान विशेष में होता था।[12]

अभिजात्य वर्ग (शासक-पुरोहित-मंत्री परिषद) साहित्यिक प्रसंग आने पर शिष्ट 'संस्कृत' का प्रयोग करते थे। राजकाज में भी बहुधा इसी भाषा का प्रयोग होता था। यद्यपि **पालि** अथवा अन्य **प्राकृतें** राजकाज में तिरस्कृत नहीं थीं। सम्राट अशोक और कनिष्क, पुष्यमित्र और सातवाहन आदि ने उनका प्रयोग किया है। प्रमाण तो इस बात का भी है कि **पालि** कई अवसरों पर **राजकाज** में भी प्रयुक्त हुई है। संस्कृत का स्थान **राष्ट्रभाषा** का रहा है, उन साहित्यिक केन्द्रों में, जहाँ वातावरण पूर्णतः शिष्टों का था परन्तु शिष्टों के व्यक्तिगत अन्तःपुर में प्राकृत ही सर्वोपरि रही है। प्राकृतों का साहित्यिक-रूप भी विकसित होता रहा है। नाटकों में उनके पदों के भी उदाहरण मिलते रहे हैं। ईसा पूर्व अथवा इसकी पहली सदी की **महाकवि 'हाल'** की गाथा-सप्तशती तो प्राकृत-भाषा के माधुर्य का सशक्त उदाहरण है।

संस्कृत और प्राकृत के सहवर्ती विकास की कल्पना यथार्थपरक अवधारणा ही है। कारण नाटकों में संस्कृत और प्राकृतें साथ-साथ प्रयुक्त हुई हैं। संस्कृत

पतंजलि के 'शिष्ट' राजा-मंत्री, ब्राह्मण आदि बोलते हैं और प्राकृत साधारण जन द्वारा व्यवहृत होती है। सामान्य जनता कम से कम संस्कृत समझ लेती होगी—उसमें कही गई विशेषताओं को, श्लेषों और गूढ़ ग्रन्थियों को वह समझती भी वैसे ही थी जैसे नाटकों के अन्य पात्र स्वयं प्राकृतभाषी होते हुए भी संस्कृत में कही गई वक्तृताओं में उत्तर-प्रत्युत्तर देते रहे हैं।

राहुल सांकृत्यायन, श्रीराम शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, रामविलास शर्मा और इन्द्रनाथ चौधुरी आदि ने संस्कृत भाषा के समानान्तर जन साहित्य और लोकभाषा (प्राकृत के विविध रूपों का विकास) का सहवर्ती रूप स्वीकारा है। कहना न होगा कि कालिदास के साहित्य में भाषा की कुलीनता के विरुद्ध जनभाषाएँ अपनी पहचान बनाती हैं। कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अंक में व्यवहृत अपभ्रंश के उन अंशों को **पुरानी हिन्दी** नहीं माना गया है। जो इसकी प्रथम अधिकारी है। यद्यपि सरहपा, स्वयंभू और अर्ब्दुरहमान का पूर्ववर्ती हिन्दीपन उसमें विद्यमान है। वैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में वैदिक और 'विक्रमोर्वशीयम्' में दोहा और सोहत छन्दों का प्रयोग भी इस तथ्य का समर्थन है कि ऋषि से भिन्न कवि के रूप में कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रथम कवि तो हैं ही हिन्दी के वे प्रथम ज्ञात कवि हैं। अतः संस्कृत के समान लोकभाषा भी नानारूपों में विकसित हो रही थी। उसमें लोकसंस्कृति और लोकमानस अपना मुँह खोल रहे थे। संस्कृत के रचनाकारों में कालान्तर में लोकभाषा स्वीकृत होती रही है।

भारतीय साहित्य के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को द्वंद्वात्मक-पद्धति के आधार पर विश्लेषित करने का प्रयत्न करते हुए इन्द्रनाथ चौधुरी ने कहा है कि "संस्कृत की समृद्ध साहित्य परम्परा का विकास एक द्वंद्वात्मक स्थिति पर आधारित है : यहाँ संवादों की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित है, अविराम वाद-विवाद का विस्तार है तथा विरोधात्मक स्थितियों के बीच लगातार बातचीत का सिलसिला जारी रहता है—ये ही इस धारा की मूल विशेषताएँ हैं। अगर यहाँ सुसंस्कृत नागर चेतना से जुड़ा हुआ एक **कालिदास** है तो ग्रामीण सामाजिक चेतना का चितेरा एक **योगेश्वर** भी है। अगर यहाँ राजाओं और अप्सराओं से सम्बन्धित नाटक **विक्रमोर्वशीय** है तो साधारण जनता को लेकर लिखा गया नाटक **मृच्छकटिक** भी है।"[13]

संस्कृत के समानान्तर प्राकृत भाषा का अस्तित्व तो है ही पर कालान्तर में राजकीय संरक्षण और बौद्ध दर्शन के आश्रय से प्राकृतों का विभिन्न रूपों में प्रादेशिक स्तर पर विकास भी हुआ है। प्राचीनतम प्राकृत का रूप जो साहित्य में व्यवहृत हुआ है वह बौद्धों की 'पालि' (प्राकृत) भाषा है जिसमें बौद्ध धर्म की पुस्तकें और जैनों का प्राचीन साहित्य लिखा गया है। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी वही है। यह निश्चित है कि "पश्चिम में सिन्धु की तलहटी में 'अपभ्रंश'

पनपी और 'शौरसेनी' गंगा-जमुना के दोआब क्षेत्र मथुरा केन्द्र में फैली। शौरसेनी की शाखाएँ 'गौडारी' (गुजराती), आवंती (पश्चिमी राजपूतानी) और महाराष्ट्री (पूर्वी राजपूतानी) हुई। पूर्व में 'मागधी' मगध अथवा बिहार में और अर्धमागधी काशी के चतुर्दिक फैली। अपभ्रंश से सिंधी-पश्चिमी पंजाबी और काशमीरी, शौरसेनी से पूर्वी पंजाबी और हिन्दी, प्राचीन काल की अवंती और गुजराती और 'मागधी' और अर्धमागधी से मराठी और बंगला, मैथिली और भोजपुरी आदि की सृष्टि हुई। हिन्दी का आरम्भ लगभग आठवीं शताब्दी में हो गया था। प्राकृत भाषाओं में एक विद्रोहात्मक शक्ति रही है, शिष्टों से हटकर विशों में मिलने की। वर्गवाद का पहला रूप संस्कृत-प्राकृत के स्वभावजन्य विरोध में मिलता है। वर्गवाद के संघर्ष व युद्ध में जहाँ पहले संस्कृत थी वहाँ आज प्रान्तों की प्राकृतें हैं।" (भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 189)

कहना न होगा कि सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बाणभट्ट के हर्षचरित में वे अपने परम मित्र भाषाकवि इषास का आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं। भाषा शब्द भारतीय संस्कृति और साहित्य के रहस्य जानने के लिए अद्‌भुत कुंजी है। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि राजस्थान के चारण कवियों दलपत विजय, चन्दरबरदाई, नरपति नाल्ह, मैथिली के विद्यापति, ब्रजभाषा के सूर और अवधी के कवि तुलसीदास को कवि क्यों कहा जाता है? जबकि कारण यह भी स्पष्ट है कि न तो चन्दरबरदाई ने अपने आपको राजस्थानी कवि कहा है। न ही विद्यापति या जायसी ने अपने आपको अवधी भाषा-बोली का कवि कहा है।

भारतीय साहित्य में 8वीं शताब्दी से लेकर 11वीं शताब्दी का काल, विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के टकराव और विभिन्न भारतीय भाषाओं के निर्माण का है। सरहपा (8वीं शताब्दी) पहले बौद्ध सिद्ध हैं जिन्होंने चर्या गीतों और दोहाकोष की रचना की है तथा ब्राह्मणवाद का खण्डन भी किया है। स्वयं ब्राह्मण होकर बौद्ध दर्शन के प्रतिरूप में शंकराचार्य (दक्षिण-कालडी से उभरकर) 8वीं शताब्दी में बौद्ध, लोकायत, सांख्य और वैशेषिक दार्शनिक के प्रतिरोध में वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा रचते हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र, उपनिषद और भागवत गीता), प्रस्थानत्रयी पर भाष्य भी लिखे। वास्तविकता तो यह है कि ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणधर्म को पुनर्जीवित करने का सुनियोजित प्रयास रहा है।[4]

शंकराचार्य की तरह गोरखनाथ (10-11वीं शताब्दी) ने पंजाब, गुजरात, उत्तरप्रदेश, नेपाल, असम और उड़ीसा आदि की यात्राएँ की थीं और नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से बाह्याडम्बर तथा जात-पाँत की प्रथा का निषेध रचा। नाथ सम्प्रदाय को सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योग सम्प्रदाय और अवधूत मत भी कहा जाता है। बौद्ध सिद्ध जहाँ निरीश्वरवादी थे वहाँ नाथ सिद्ध ईश्वरवादी। परन्तु नाथों का ईश्वरवाद सगुण ईश्वर के प्रति आस्थावान न होकर निरंजन के प्रति आस्थावान

था। इसलिए गरीब मुसलमान वहतत-ए-वजूद (तरुव्वुफ-अद्वैतवाद) को मानने वाले भी उनके साथ हो लिए। गोरखनाथ के बारे में अनुश्रुतियाँ बतलाती हैं कि बौद्ध कापालिक कण्हण से उनका वैचारिक संघर्ष भी हुआ है। कौल सम्प्रदाय, कालामुख, पाशुपत, कापालिकमत, शाक्तमत आदि में जो कुछ सात्विक था, उसे उन्होंने ग्रहण किया। गोरखनाथकृत 'गोरखबानी' की भाषा खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी भाषा है तो कबीर की खड़ी बोली में राजस्थानी, ब्रजी और भोजपुरी भाषा का समावेश रहा है।

भारतीय संस्कृति में विभिन्न भाषाओं, वैचारिक परम्पराओं और प्रादेशिक संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ है। अधिकांश भारतीय भाषाएँ अपनी जड़ें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, ब्रज और अवधी में तलाशती हैं। अपवाद रूप में दक्षिण की तमिल भाषा है जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के समानान्तर प्राचीन रूप अख्तियार किए हुए है। जिसे सुनीति कुमार चाटुर्ज्या द्राविड़ी (तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगू, गोड़ तथा ब्राहुई) भाषा मानते हैं।[15] भारत के विभिन्न प्रान्तों में रचा गया विभिन्न भाषा-भाषी साहित्य प्रकारान्तर से भारतीय मनीषा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व समन्वित रूप में करता है। भारतीय चिन्तन भूमि में हिन्दी के कई नए-पुराने रूप राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, **हिन्दुई, दक्खिनी** आदि में सम्प्रेषित होने के साथ-साथ सांस्कृतिक भूमिका अदा करते रहे हैं।

यह सामान्य लोकोक्ति है कि "संस्कृत कूप जता और भाखा बहता नीर। जबकि **जनभाषा** ही नदी, नालों, प्रपात-झरनों, सोतों और ऋतु-प्रवाह का प्रतिबिम्ब पा सकती है। सामाजिक स्तर पर मध्ययुगीन **भक्ति आन्दोलन** ने **वर्णव्यवस्था** और जातिप्रथा की मान्यताओं पर **प्रहार** किया है। वह **शास्त्र** के स्थान पर **लोक** की प्रतिष्ठा है। दरअसल महाराष्ट्र के नामदेव, तुकाराम, ज्ञानेश्वर और जनाबाई ने; आन्ध्र के वेमन्ना; कर्नाटक के बसवेश्वर, अक्क महादेवी ने; दक्षिण के नाम्मलवार तथा उत्तरप्रदेश के कबीर, जायसी, सूर, तुलसी ने; राजस्थान के दादूदयाल, मीरा, सहजोबाई ने तथा गुजरात के अक्खा आदि ने **संस्कृत** के स्थान पर **जनभाषाओं** को महत्त्व दिया है, वह संस्कृत के **बरक्स प्राकृतों के विद्रोह का परवर्ती परिणाम** है। पर बकौल इन्द्रनाथ चौधुरी हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भक्ति आन्दोलन में **भाषा** लेखकों ने जो भी अस्त्र इस्तेमाल किए हैं वे सब संस्कृत की भट्टी में ही तैयार हुए थे। संस्कृत परम्परा के सन्दर्भ में **देसी-मार्गी वैषम्य** या **क्लासिकी वैषम्य** वस्तुतः एक ही परम्परा की दो अलग अभिव्यक्तियाँ हैं। ये दो अलग परम्पराएँ नहीं हैं, दरअसल **सांस्कृतिक नैरन्तर्य के दो ध्रुव हैं।**[16]

भारतीय साहित्य में विषय-वस्तु की एकता है, जो विविध चिन्तन परम्पराओं में, दृष्टिकोण की विभिन्नता से, शैली की विविधता में प्रकट होती है—गौड़ीय, वैदर्भी, पांचाली आदि में। साथ ही सांस्कृतिक विशिष्टताओं का वैविध्य भी

साहित्यिक परम्पराओं, प्रतिरोध और सहवर्ती विकास में वाद-विवाद और संवाद रूप में प्रतिबिम्बित होता है। विषयवस्तु की एकता और विविधता, सांस्कृतिक विशिष्टता के प्रान्तीय और राष्ट्रीय सन्दर्भ, आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के सन्दर्भ ग्रन्थ, क्लासिकी और लोकपरम्परा के अनुबंध आपस में अनुरूपक सम्बन्ध रखते हैं, ठीक वैसे ही जैसे स्त्री और पुरुष, धरती और आकाश, नदी और सागर, ऋतु और समय, सिद्धान्त और कर्म के अनुपूरक सम्बन्ध हैं।

वैष्णव-भागवत धर्म और बौद्ध-जैन संस्कृति का अन्तर्द्वन्द्व

भारतीय साहित्य के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में कई उपधाराएँ सक्रिय रही हैं। एक ओर वैष्णव भागवत धर्म की संस्कृति प्रवाहमान रही है तो दूसरी ओर समानांतर रूप में शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध धर्म की संस्कृति गतिशील रही है। विभिन्न आलोचकों ने भारतीय संस्कृति के विकासशील रूप की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। जैन धर्म ने ईसा पूर्व 600 में शैव और शाक्त के नरबलि और पशुबलि प्रथा का विरोध किया था। (दिनकर संस्कृति के चार अध्याय) जैन धर्म का प्रचार-प्रसार जहाँ भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में हुआ है जिसका प्रभाव स्थापत्य, चित्रकला और साहित्य में उपलब्ध है। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव चीन, जापान, इण्डोनेशिया, जावा, सुमित्रा आदि द्वीप-द्वीपान्तरों तक हुआ है।

अभिजात्य और जनस्तर पर भाषा-साहित्य के क्षेत्र में इन्द्रनाथ चौधुरी ने तत्कालीन डायलेक्टिक्स को इस स्वरूप में रेखांकित किया है कि "एक ओर रस ध्वनि का संसार रचनेवाला आनन्दवर्धन है तो दूसरी ओर वक्रोक्तिकार कुंतक भी। अगर यहाँ लेखक केन्द्रित सिद्धान्त है तो दूसरी ओर अनुमान जैसे पाठक केन्द्रित सिद्धान्त भी उपलब्ध हैं। गौड़ीय, वैदर्भी, लाटीय आदि विभिन्न अभिव्यक्ति की शैलियाँ हैं। योग की मीमांसा तथा वेदांत जैसे आस्तिक आदर्शवादी दर्शन की धाराएँ हैं तो बौद्ध, जैन तथा चार्वाक जैसी नास्तिक दार्शनिक प्रणालियाँ भी हैं और न्याय, वैशेषिक तथा सांख्य जैसे बीच की दार्शनिक धाराएँ भी हैं और फिर इन्हीं के आश्रय से मध्ययुग में नव्यन्याय का प्रसार भी है जिसने प्रमात्र, प्रमाण तथा प्रमिति का एक ऐसा Universal Model दिया है जिसकी सहायता से कोई भी दार्शनिक विश्लेषण सम्भव हो पाता है। यहाँ यदि एक ब्राह्मण विश्वदृष्टि है तो दूसरी ओर श्रमण विश्वदृष्टि भी उपलब्ध है।"[17]

राजनैतिक कैनवास पर हमेशा वैष्णव, भागवत ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय शक्तियाँ ही प्रभुत्वशाली नहीं रही हैं बल्कि बीच के कालखण्ड में ईसा पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी में शिशुनाग वंश के पिछले युगों में नन्दों का उत्कर्ष हुआ। इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है कि महापद्म शूद्र और निम्न कुलीय था जिसने क्षत्रिय राजन्यों (शिशुनागों) से मगध का साम्राज्य छीन लिया था। उसने क्षत्रियों का उसी प्रकार

संहार किया, जिस प्रकार कभी परशुराम ने किया था। नन्द का विरुद था सर्वक्षत्रांतक—सभी क्षत्रिय राजाओं का संहार कर। महापद्म की अधिकांश सेना अक्षत्रिय और निम्नवर्ण की जनता की रही थी।

"महापद्म नन्द के क्षत्रिय संहार में प्रमाणतः ब्राह्मणों ने सक्रिय साथ दिया। कुछ आश्चर्य की बात नहीं यदि पाणिनि ने युसुफ जई के शालीतूर (पठान क्षेत्र) से आकर पाटलिपुत्र के वातावरण में अपनी **अष्टाध्यायी** के सूत्र **'वासुदेवार्जुनाय नाभ्यामवुन'** में भागवत धर्म की उठती हुई लहर की घोषणा की तो उनके वार्तिकाकार कात्यायन ने शीघ्र उस लहर को अपने पुरातन शत्रुओं की ओर मोड़ दिया। इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि नन्द के तीन मंत्री थे और तीनों ब्राह्मण थे। उनमें से दो के नाम तो विशेष प्रसिद्ध हैं, कात्यायन (वररुचि) और राक्षस। दोनों ने उसकी क्षत्रिय संहारक नीति का पूर्ण रूप से अभिपोषण किया और दोनों ने 'कण्टके नैव कण्टकम' का राजनीतिक आचरण किया।"[18]

साहित्यिक-सांस्कृतिक इतिहास साक्षी है कि राक्षस तो नन्दों की सहायता में शहीद हो गया। उसने चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों से अविराम संघर्ष किया। बाद में गुप्तकालीन **क्षत्रिय नाटककार विशाखदत्त** ने अपने **मुद्राराक्षस** नाटक में ब्राह्मणकर्मा राक्षस को 'राक्षस' कहा और राक्षस कर्म चाणक्य को 'ब्राह्मण' (दृष्टव्य : प्रसाद के नाटक)। कहना न होगा कि भारतीय चिन्तन, दर्शन और साहित्य की विकासपरक मंजिलें सरलीकृत रूप में द्वंद्वात्मक नहीं रही हैं बल्कि अपनी अन्तर्जटिलता में पाठकों एवं विद्वानों से श्रमसाध्य चिन्तन एवं विपरीतों की एकता संबंधी विश्लेषण की माँग करती हैं।

कारण 'भट्टिकाव्य' में जो 'क्षात्र, द्विजत्व च परस्परार्थम' क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व की सार्थकता एक-दूसरे का स्वार्थ सिद्ध करने में है—का उद्घोष हुआ वह इसी ब्राह्मण-क्षत्रिय साझेदारी का सबूत था। पहला लम्बा अपवाद इसी **मौर्यकाल** में सामने आया। एक परम्परा **वैयाकरणों** की थी दूसरी **शास्त्रियों** की। एक शृंखला की कड़ियाँ थे—**पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि** दूसरी शृंखला के थे **मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु**, अष्टाध्यायी-वार्तिक-महाभाष्य और मनुस्मृति-याज्ञवल्क्य स्मृति-विष्णु स्मृति। चाणक्य का अर्थशास्त्र दोनों के मध्य का था। अष्टाध्यायीकार पाणिनि क्षत्रिय प्रवृत्ति के नन्द की संरक्षा में था, पर था स्वयं ब्राह्मण। उसने जनवर्ग की उठती हुई आँधी **भागवत धर्म** में देखी, उससे वह संत्रस्त हुआ। वार्तिकाकार कात्यायन न केवल अष्टाध्यायी का प्राश्निक था वरन पाणिनि की क्षत्रिय पोषक नीति का शत्रु भी था। राजनीति में उसने शूद्र जनसत्ता से साझा किया। (भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 30)

मनुस्मृति भारतीय जनजीवन में एक जीवन्त सांस्कृतिक मिथ है। जो वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक ग्रन्थ है भले ही हम वर्तमान दौर की प्रजातांत्रिक और

मानवतापरक व्यवस्था में वर्ण और वर्ग की दुरभिसन्धियों में इसे त्याज्य मान लें। वैसे भी मनुस्मृति के साथ मनु का नाम इसलिए जुड़ा है कि वह अनुवृत्त से मनुष्य का पिता और राजधर्म का प्रारम्भक माना जाता है। स्मृति भृगुवंशीय ब्राह्मण की लिखी हुई है और शूद्रों के विरोध में अत्यन्त प्रतिक्रियावादी बर्बर और अन्यायपूर्ण नियमों का उद्घाटन करती है। साथ ही उसमें ब्राह्मण शक्ति का उद्घाटन भी है। ब्राह्मण उसमें पृथ्वी का देवता 'महिसुर' और पुण्य व्यक्ति है। भार्गव शुंगों के आदि राजा और पतंजलि शिष्य **ब्राह्मण शासक पुष्यमित्र** के तत्वावधान में लिखी मनुस्मृति का ऐसा होना स्वाभाविक ही है। यह परम्परा याज्ञवल्क्य और विष्णु स्मृतियों में भी अक्षुण्ण बनी रही, जब तक ब्राह्मण क्षत्रियों का उस अनागत भय के प्रति गुप्तकाल तक समझौता बना रहा। **बौद्ध** अशोक के समताघोष एवं निम्नवर्ग-वर्ण के बौद्ध धर्म में समावेश के कारण प्रत्यावरोध में ऐसा परिणाम स्वाभाविक ही माना जाएगा।

कोई भी सांस्कृतिक परम्परा अपनी जड़ों को अतीत के इतिहास, मिथ और राजनीतिक परिवर्तनों में तलाशती है। वर्तमान दौर में अमरीकी **नीग्रो** अब अपने इतिहास का आरम्भ दासता के काल से नहीं मानते, वे अपने पुराने महाद्वीपों के पूर्वजों से पुनःसम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। मध्य और दक्षिण अमरीका के **इण्डियन** अपने उस अतीत के प्रति सजग हैं, जिसमें सहस्रों वर्ष पूर्व **इंका, माया,** और **एजटक** लोगों ने गौरवपूर्ण सभ्यताओं का विकास किया था। इण्डोनेशिया का एक सबल बौद्धिक वर्ग इस्लाम को अपना धर्म मानते हुए भी प्रबंधन की हिन्दू और बोरोबुदुर की बौद्ध परम्पराओं से अपने सम्बन्धों को समझना चाहता है।[19]

वैष्णव-भागवत धर्म और जैन-बौद्ध की द्वंद्वात्मकता को अतीत के ग्रन्थों और उनकी निर्माण प्रक्रिया की अन्तर्जटिलता में देखा जा सकता है। कोई भी विचारधारा और दर्शन की विकास यात्रा अपने देश-काल की आवश्यकता के अनुरूप होती है। पर सत्ता-संघर्ष और अहंवादी-व्यक्ति से उनमें विकास और क्षय की अन्तर्धारा कम अनुस्यूत नहीं रहती है। चाणक्य ने अगर ब्राह्मणवादी वर्चस्व एवं अहम् के अनुरूप अपने **अर्थशास्त्र** में शूद्रों के विरुद्ध अनुचित अन्यायपूर्ण नियम लिखे, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ने जिनको विस्तार दे-देकर प्रकाशित किया। चाणक्य ने क्षत्रिय से साझा किया परन्तु उनका स्वामी बनकर। शूद्र शत्रु नन्द की मार से मूर्छित क्षत्रिय ब्राह्मण की छाया में गिर पड़ा, ब्राह्मण ने उसे अस्त्र बनाकर समान शत्रु पर प्रहार के अर्थ में ग्रहण किया।

कालान्तर में **चन्द्रगुप्त** ब्राह्मण वर्ग के चंगुल से बचकर अपने क्षत्रिय जनित स्वभाव एवं युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप बौद्ध-जैन सम्प्रदाय की ओर आकर्षित होकर जैन हो गया। बौद्ध अशोक ने यज्ञादि बन्द करवाए थे। सारे धर्मों और सारे वर्णों के लोगों की समानता की घोषणा कर दी। धन और शक्ति पर वर्चस्व क्षत्रिय वर्ग

का था पर मेधा और क्रान्तिकारी षड्यन्त्र नीति पर ब्राह्मण हावी रहे। पतंजलि के तत्त्वावधान में ब्राह्मण पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य शासक वृहदथ को मारकर ब्राह्मण साम्राज्य की नींव रखी। जिससे बौद्ध संघारामों के क्षत्रिय और ब्राह्मणेत्तर वर्गों में प्रतिक्रिया हुई। वे शाकल के ग्रीकराजा मिनांदर को बौद्ध बनाकर पुष्यमित्र पर चढ़ा लाए। पुष्यमित्र ने उसे हराकर पाटलीपुत्र से जालंधर तक के सारे बौद्ध विहारों को जला डाला और शाकल में ऐलान किया कि "जो मुझे एक श्रमण मस्तक देगा उसे मैं सौ दीनार दूँगा।" दरअसल श्रमण मस्तक क्षत्रिय का भी प्रतीक था और ब्राह्मणेत्तर बौद्ध का भी। पुष्यमित्र की संरक्षा में मनुस्मृति में श्रमण और बौद्ध दोनों के विरोध में नियम बने और आनेवाली स्मृतियों में भी बनते गए। तीन राज्य खड़े हुए, शुंगों के, चेदियों के, आन्ध्र-सातवाहनों के, फिर काण्वायनों और सातवाहनों के। वे सब ब्राह्मण कुल थे। अतः फिर यज्ञानुष्ठान सर्वत्र होने लगे, अश्वमेधों की परम्परा पुनः जागृत हुई।

जैन और बौद्ध धर्म की मान्यताओं और तर्क पद्धति के विभिन्न सोपान कम लोमहर्षक नहीं हैं। बौद्धों की तरह जैन दर्शन एवं सम्प्रदाय भी वेदों की प्रामाणिकता से इन्कार करते थे और पुरोहितों तथा कर्मकाण्ड का विरोध भी करते थे। उनकी मान्यता रही है कि ईश्वर की अवधारणा के बिना इस ब्रह्माण्ड के रहस्य को सुलझाना और प्राप्त कर लेना सम्भव है। जैन धर्म के पैगम्बर जो तीर्थंकर कहलाते हैं, उन्होंने स्वेच्छा से अपने आपको सभी लौकिक बन्धनों से मुक्त कर लिया था। वर्द्धमान महावीर को जैन अपना चौबीसवाँ और अन्तिम तीर्थंकर मानते हैं, जिन्होंने ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी के सिद्धान्तों और मान्यताओं को सुधारने व पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

जैन धर्म मस्तिष्क और पदार्थ की पारस्परिक सापेक्षता को स्वीकार करता है और उचित आचरण (सम्यक चरित) द्वारा पूर्णता की भावना को भी। कारण सम्यक चरित के बिना ज्ञान निरर्थक होता है और उचित ज्ञान के बिना आचरण अंधा होता है। जैन धर्म दैनिक जीवन में कठोर आध्यात्मिक अनुशासन पर जोर देता है। आत्मनिग्रह और आत्मानुशासन उनके मूल मंत्र हैं। जैन-दर्शन के अनुसार अपने आवेगों का दमन कर पूर्ण नियंत्रण रखा जा सकता है। मोक्ष प्रार्थनाओं, आराधनाओं, कर्मकाण्ड और बलियों से नहीं बल्कि नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन से प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि वे पाँच महान शपथों (महाव्रतों) को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ये महाव्रत हैं सर्वथा प्राण तिपात विरमण (अहिंसा), सर्वथा मृषावाद विरमण (सत्य बोलना), सर्वथा अदतादान विरमण (किसी न दी हुई चीज को न लेना), सर्वथा मैथुन विरमण (ब्रह्मचर्य पालन करना), सर्वथा परिग्रह विरमण (अर्थात् अपरिग्रह होना)। जैन धर्म सारांशतः सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित पर जोर देता है।[*]

आत्मा की अवधारणा के सम्बन्ध में जैन और बौद्ध दर्शन में अन्तर है। बौद्ध जहाँ आत्मा के यथार्थ अस्तित्व से इन्कार करते थे वहाँ जैन आत्मा की अनश्वरता में विश्वास करते थे। जैनों का 'निर्वाण' आत्मा का निषेध नहीं था वरन तीर्थंकरों या अरहंतों की स्थिति प्राप्त करना था—अर्थात् आत्मा की वह स्वाभाविक स्थिति प्राप्त करना जहाँ वह मुक्त और अशरीरी रूप में रहती है। कालान्तर में जैन धर्म भी विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हुआ। जिसे श्वेताम्बर व दिगम्बर मत कहा जाता है।

मध्ययुगीन दौर में बौद्ध धर्म ने भी अन्य सम्प्रदायों की तरह अलग-अलग पूजा पद्धतियाँ और अलग-अलग आचार संहिताएँ अपनाईं। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म किसी ईश्वर अथवा परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता था। किन्तु बौद्धों की महायान शाखा के अनुयायियों ने अब स्वयं बुद्ध को देवताओं का भी देवता बना दिया। बुद्ध ने किसी अमर आत्मा के अस्तित्व का निषेध किया था। किन्तु अब बोधिसत्व के एक अवतार के रूप में शाक्य मुनि बुद्ध की पूजा होने लगी। वैदिक यज्ञों और वर्णाश्रम धर्म के परिपालन के स्थान पर बौद्ध धर्म ने मोक्ष के लिए कभी नैतिक पूर्णता पर जोर दिया था। वह अब मोक्षदाता बुद्ध की कृपा पर निर्भर माने जाना लगा।

वसुबंध ने पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधम्म कोष में चेतावनी दी थी कि "इस युग का धर्म अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा है। यह ऐसा युग है जिसमें दुराचार और व्यभिचार का बोलबाला है। छठी और सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का पतन तांत्रिक अभिचार के रूप में दिखाई पड़ा। ये तांत्रिक प्रथाएँ विशेषतः महायान प्रणाली की कुछ शाखाओं से सम्बद्ध थीं। जो जादू-टोने के सहारे ज्ञान प्राप्ति का मार्ग बताती थीं।" विनयतोष भट्टाचार्य ने लिखा है, "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पाल शासकों के काल में तन्त्रविद्या ने महत्त्व ग्रहण किया। नालन्दा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों को तन्त्रविद्या अपने नियमित पाठ्यक्रमों में शामिल करनी पड़ी थी और उन लोगों की कक्षाओं को चलाने के लिए, जो तन्त्रविद्या का ऊँचा ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, नियमित अध्यापक रखने पड़े थे।"[21]

तन्त्र का व्यवहारतः वैदिक क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं था तो भी तांत्रिक लोग वेदों का विरोध नहीं करते थे। हिन्दू तांत्रिक अपने को वेदों का सच्चा अनुयायी मानकर तांत्रिक आगमों को पाँचवाँ वेद मानते थे। तांत्रिक क्रियाओं में देवताओं और देवियों की पूजा करने की विस्तृत पद्धतियाँ थीं, उनकी रेखा-आकृतियाँ अथवा चित्र बनाए जाते थे, गाथाएँ तथा मंत्र गाए जाते थे, विभिन्न मुद्राएँ बनाई जाती थीं तथा रहस्यमय वृत और चौकोर खींचे जाते थे। हाथ की मुद्राएँ बनाई जाती थीं, हठयोग और साथ ही साथ चिन्तनमय योग

प्रणाली का सहारा लिया जाता था यहाँ तक कि योनि सम्बन्धी यौगिक तन्त्र विधियों का उपयोग होता था।[22] पंच मकारों—मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन का प्रचलन सामान्य बात थी।

सर जान बुड्रफ ने 'प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र' में अभिज्ञापित किया है कि "मानव शरीर में कुल कुंडलिनी (ब्रह्माण्ड की जीवन्त शक्ति) एक चक्रित नाड़ी के अन्दर स्थित शक्ति विकास के मूलधारा केन्द्र में स्थित मानी जाती है। वह शब्दब्रह्म के पुरुष तत्त्व—**स्वयंभू** को अपनी कुंडलियों से आवृत्त रखती है और उसके मुख को अपने फन से ढँके रखती है। साधक का कार्य नारी तत्त्व के साथ पुरुष तत्त्व का संयोग कराना होता है। यह साधना शरीर के अन्दर निहित शक्तियों को जगाकर ही पूरी की जा सकती है। मेरुदण्ड की जड़ में एक सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी सोई रहती है और इसे प्राणायाम के श्वास-अभ्यासों द्वारा सुषुम्ना से होते हुए सिर में स्थिर सहस्रार तक ले जाना होता है।"[23] सिर में स्थिर इस केन्द्र में ही पुरुष और नारी तत्त्वों का संयोग कराया जाता है और पूर्ण **परमानन्द** की अवस्था प्राप्त की जाती है।

मध्ययुगीन सिद्धान्तों और व्यवहारों में **शक्ति** की अवधारणा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। **हिन्दू तन्त्रों** में पुरुष और स्त्री का संयोग **शिव** और **शक्ति** के संयोग का प्रतीक माना जाता था और **बौद्ध धर्म** में प्रज्ञा और उपाय के संयोग का प्रतीक। शिव बल थे और शक्ति ऊर्जा थी। ऊर्जा के बिना शिव निष्क्रिय माने जाते थे। प्रज्ञा और उपाय के संयोग के बिना बुद्धत्व नहीं प्राप्त किया जा सकता था। पुरुष और स्त्री का एकीकरण ही परमानन्द व समस्त सृष्टि का स्रोत माना जा सकता है। कालान्तर में तन्त्रवाद दो समूहों में विभक्त हुआ—वामाचार सम्प्रदाय और दक्षिणाचार सम्प्रदाय। दोनों में ही यौन क्रियाओं को धार्मिक सिद्धान्त के स्तर तक पहुँचा दिया था।

सार रूप में कहा जा सकता है कि **बौद्ध धर्म** ने भारतवर्ष की सांस्कृतिक विरासत को लगभग पन्द्रह सौ से दो हजार वर्ष तक की लम्बी प्रक्रिया में (ईसा पूर्व छठी) शताब्दी से लेकर मध्ययुगीन दौर तक लगातार समृद्ध किया है। कला, साहित्य, स्थापत्य, चित्रकला आदि में। उन्होंने संस्कृत भाषा के स्थान पर पालि को समृद्ध किया है तो जैन धर्मदर्शन ने प्राकृत अपभ्रंश को समर्थन दिया है। "पालि भाषा के **सद्धर्मपुण्डरीक** नामक ग्रन्थ में बौद्ध धर्म, अध्यात्म और कला का विलक्षण मिश्रण है। इसकी रचना कुषाण साम्राज्य में दूसरी शताब्दी के आरम्भ में हुई थी। तथा 256-316 ईसवी के बीच कभी इसका अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। आधे एशिया में इसने **बौद्ध-बाइबिल** का दर्जा पा लिया। इसके अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर **भगवद्गीता** का प्रभाव रहा है। अश्वघोष कृत **बुद्धचरित** और आर्यशूर कृत **'जातकमाला'** की प्रेरणा से अजन्ता, गांधार, लुंगमेन तथा बोरोबुदुर

की भव्य मूर्त्तियों और प्रतिमाओं का निर्माण हो पाया है।"[24] पूर्व के बौद्ध-पाल साम्राज्य के तांत्रिक पुराण, धर्म और आध्यात्म आज भी नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, वृहतर भारत और इण्डोनेशिया को बाँधे हुए हैं।

बंगाल के पाल सम्राट कट्टर बौद्ध भी थे और सामाजिक स्तर पर शूद्र वर्ग में परिगणित। पर उन्होंने अपने साम्राज्य को विस्तृत किया तथा शूद्रों को उच्चाधिकारी बनाया। हर्ष और बौद्ध धर्म के प्रतिरोध में गौड़वंशीय शशांक ने बोधगया के बोधिवृक्ष को काटकर उसके मूल में जो अग्नि रखी थी उसे पालों ने फिर से पनपाया। भगवतशरण उपाध्याय जैसे सांस्कृतिक चिन्तक ने भी कहा है कि "नालन्दा के विश्वविद्यालय में बौद्ध दार्शनिक ब्राह्मण और लोकायत दोनों का खण्डन करते थे। पाल सम्राटों ने न केवल नालन्दा विद्यापीठ को सरंक्षण दिया है बल्कि विक्रमशिला जैसे शिक्षण संस्थान खड़े किए।

ब्राह्मण वर्ग ने बौद्धों का प्रतिरोध किया। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य और कुमारिल आदि ने अद्वैतवाद और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। विडम्बना यह थी कि बौद्धों का शून्यवाद जो उपनिषदों का अद्वैतवाद था वह शंकर का भी अद्वैतवाद बना। शंकर ने बौद्ध दर्शन की सूक्तियों का बौद्धों के ही विरुद्ध प्रयोग किया और फलतः स्वयं 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहलाए। कुछ काल तक निश्चय ही शंकर और कुमारिल के सम्मिलित उद्योग ने बौद्धों को अप्रतिभ कर दिया। क्षत्रिय चुपचाप देखते रहे। ब्राह्मण शक्ति एक और कारण से बढ़ चली थी। हूण, आभीर, गुर्जर, जाट आदि नवागंतुकों को उन्होंने अपनी छाया में ले लिया। उनको नवक्षत्रियों में शामिल कर लिया। माउण्ट आबू में आयोजित अग्निकुलीय क्षत्रियों का आविर्भाव परम्परागत यज्ञानुष्ठानों से हुआ।"[25] पर यह सारा प्रतिरोध उन बौद्धों के प्रतिरोध में था जो अब न क्षत्रिय रह गए थे, न अभिजात कुलीय वर्ग ही रहे।

भारतवर्ष के सामन्तवादी मध्युगीन दौर में बौद्ध धर्म से अनुप्रेरित एक नवीन जनसत्ता का आविर्भाव हुआ। दर्शन को उन्होंने अभिजात कुलीय समझकर फेंक दिया था, ब्राह्मण दर्शन को भी और क्षत्रिय बौद्ध दर्शन को भी। कहना न होगा कि भागवत और शैवधर्म प्राचीन काल से ही निम्नवर्गीय और अंशतः अब्राह्मण-अनार्य रहे थे। इन दोनों का इस युग में प्रबल योग हुआ। बौद्ध धर्म के महायान ने इस आन्दोलन का आरम्भ किया। महायान से मंत्रयान निकला और मंत्रयान से उड़ीसा के महेन्द्र श्रीपर्वत पर वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ। कर्मकाण्ड नए सिरे से निखरा, कारण सिद्ध अब नए पुरोहित थे। क्रिया रहस्य पर निम्नवर्गीय धर्म आगे बढ़ रहा था वह यौनाचारण से भी बचा न रहा। बौद्धों की प्रवज्या, जैनों के उत्कट तप और ब्राह्मणों के संयम पर यह भारतीय जनजीवन का क्रूरतम उपहास रहा है कालचक्र की वीथियों में।

दक्षिण भारत के राजाओं के बीच संघर्ष तथा मुठभेड़ के उपक्रम और

विभिन्न युद्ध प्रायः हिन्दू धर्म और बौद्ध-जैन धर्म के टकरावों को प्रतिबिम्बित करते हैं। दक्षिण भारत के आलवार और नायनार आन्दोलन, आन्ध्र-कर्नाटक-तमिलनाडु के भक्ति आन्दोलन, शैव एवं वैष्णव आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्ण-व्यवस्था और जाति प्रथा का निषेध भी वहाँ रहा है और निम्न वर्ग-अब्राह्मण समाज से संतों का आविर्भाव ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुआ है। शैव और वैष्णव भक्त अपनी भक्ति भावना से उतने लोकप्रिय नहीं हुए हैं जितने कि बौद्ध और जैन धर्म के प्रतिरोध संघर्ष के कारण चर्चित हुए हैं।[26] सातवीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण में पल्लव शासकों का पतन और चालुक्यों का उदय—जिन्होंने वैष्णव धर्म को अपना लिया था तथा ईसवीं सन् 733 में काँची पर आधिपत्य कर लिया जो बौद्ध धर्म पर हिन्दू धर्म की विजय का प्रमाण था। पर भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक क्षेत्र में जैन और बौद्ध धर्मग्रन्थों का उतना उपयोग नहीं किया गया जितना अपेक्षित था। अहिंसा, अपरिग्रह, आस्तेय, करुणा आदि के मार्गदर्शक सिद्धान्त हमें मुख्यतः इन स्रोतों से मिले हैं। अनेक सम्प्रदायों और मतों की भी अवहेलना जाने-अनजाने हो गई है।[27]

शास्त्रों की कुछ अवधारणाएँ वर्णाश्रम पुरुषार्थ, काम, मोक्ष आदि की मान्यताएँ कम दीर्घजीवी प्रमाणित हुई हैं। पर उल्लेखनीय है कि हमारे शास्त्रकारों ने धर्म-दर्शन को देश-काल और युगीन अपेक्षाओं से जोड़ा है, चाहे वे वैदिक मत हो, वैष्णव, भागवत धर्म हो, बौद्ध-जैन हो अथवा आलवार-नायनार अभिमत। उनमें लौकिक परम्पराओं और प्रासंगिक जनचेतना की स्वीकृति भी कालान्तर में युगीन परिवर्तन के अनुरूप जुड़ती गई है। अगर बौद्ध दर्शन न होता तो काल समय की सीमा में आगे नाथों और सिद्धों का आविर्भाव न हो पाता। नाथों-सिद्धों की परम्परा कहीं न कहीं बौद्ध दर्शन और तमिलनाडु-केरल के आलवार-नायनार अभिमतों तथा शैव-बसव दर्शन से भी अनुस्यूत रही है।

सामंतवाद : विभिन्न जनजातियों और संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन

भारतीय जन समाज में वाल्मीकि कृत रामायण अगर प्राचीन कबीलाई संस्कृति (आदिम समाज) की देन है तो व्यासकृत 'महाभारत' राज्य-व्यवस्था के प्रारम्भिक दौर की। ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थों का निर्माण ऐतिहासिक विकासवाद के विवेचनानुसार राज्य-व्यवस्था के काल लगभग ईसा पूर्व 1500 वर्ष में हो चुका था। पर संस्कृत अपभ्रंश-पालि-प्राकृत की श्रेष्ठ रचनाएँ सामन्तवादी दौर की देन मानी जाएँगी। सामन्तवादी काल का निर्धारण एक गम्भीर चुनौती है। क्या हम इसे दास-प्रथा के विकास और भू-स्वामित्व की प्रथा से जोड़ें? अथवा अश्वमेध युद्ध की परम्परा से जोड़कर विशाल साम्राज्य के अधीन राजकुलों, सेनापतियों, जागीरदारों या अधीनस्थ राज्य-शासन परम्परा से। वैसे वर्णाश्रम व्यवस्था का विकास, मनुस्मृति का निर्माण

वाणिज्य-व्यापार हेतु राजपथों का निर्माण हूणों, शकों, आभीरों से युद्ध, देशी-विदेशी व्यापारिक मण्डियों का निर्माण **भारतीय 'सामन्तवाद'** की ही देन है जिसमें विभिन्न जन-जातियों के निर्माण और सहअस्तित्व की विकासशील स्थितियाँ भी सम्भाव्य हैं।

के. दामोदरन ने भारत के सामन्तवाद का उदय-काल गुप्त-सम्राटों (चौथी शताब्दी) के काल में सम्भाव्य माना है। कारण यही काल भारत में **भूमि सम्पत्ति** पर सामन्ती आधिपत्य का प्रमाणित होता है। और यही काल भारतीय इतिहास काल और मध्ययुग के आरम्भ के बीच की विभाजन रेखा है। गुप्त साम्राज्य के पतन (5वीं शताब्दी) तथा हूणों के आक्रमण के परिणामस्वरूप सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल के बाद जबर्दस्त दार्शनिक तथा धार्मिक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का मूल कारण **वर्ण-व्यवस्था** में उत्तरोत्तर बढ़ता संकट और नई उत्पादन शक्तियों का आविर्भाव था। उत्पादन प्रक्रिया में दासों का श्रम अपर्याप्त एवं हानिकारक प्रतीत होने लगा। अतः **दास प्रथा** पर आधारित **वर्णव्यवस्था** ने उत्पादन की ऐतिहासिक रूप से अधिक प्रगतिशील प्रणाली **सामन्तवाद** को जन्म दिया।

आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र एवं उत्पादन प्रणाली की नवीन भू-व्यवस्था के परिवर्तन सम्राट हर्ष (ईसवी सन 606-647) के कन्नौज वाले केन्द्र से तीव्र हुए और भारतवर्ष के अधिकतम भू-भाग पर अपने एकछत्र राज्य सामंती शासन की नींव उसने रखी। "हर्ष ने शीघ्र ही अपना शासन पंजाब से लेकर बंगाल की खाड़ी तक बढ़ा लिया। इस काल में ही बंगाल के **पालों**, बुन्देलखण्ड में **चन्देलों**, गुजरात में **आभीरों** और दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों में चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पल्लवों, चेरों और चोलों के अन्य प्रसिद्ध राज्यों का उदय हुआ। ईसवी सन सातवीं शताब्दी में भारत में सत्तर से अधिक स्वतन्त्र **सामन्तवादी** राज्य स्थापित हो चुके थे।"[28]

भारतीय सामन्तवाद एक ओर राज्याश्रय द्वारा भू-स्वामी जमींदार-सेनापति (उच्च वर्ग) द्वारा पनपा और दूसरी ओर दान-पट्टे (मन्दिर संरक्षण) की जागीरदारी द्वारा प्रथा से ब्राह्मण वर्ग में पनपा। **सातवीं शताब्दी** में चीनी यात्री **ह्वेनसांग** ने हर्ष के शासनकाल में भारत की यात्रा करते हुए लिखा है कि राज्यपालों, मंत्रियों, दण्डाधिकारियों तथा अफसरों में से प्रत्येक के पास अपने निजी भरण-पोषण के लिए भूमि का निश्चित हिस्सा मौजूद है। वे लोग भी जिनका सामूहिक भूमि पर नियंत्रण होता था, कालान्तर में इन भूमियों के मालिक बन बैठे। धीरे-धीरे किन्तु बड़े व्यवस्थित रूप में ग्रामीण जनों में एक उच्च वर्ग का सामन्तवादी तबका कालान्तर में विकसित हुआ।

भारतीय सामंतवाद के अन्तर्गत ही भूमि कभी-कभी राजा लोगों के द्वारा ब्राह्मण या मन्दिर के संरक्षण हेतु दान कर दी जाती थी। वाकाटक के राजा

प्रवरसेन ने एक हजार ब्राह्मणों को एक ग्राम देते हुए दान-पत्र में इस शर्त का उल्लेख किया है कि वे राज्य के विरुद्ध राजद्रोह न करें, ब्राह्मणों की हत्या न करें, चोरी और व्यभिचार न करें, राजाओं को विष देकर उनकी हत्याएँ न रचाएँ, युद्ध न छेड़ें और दूसरे गाँवों को त्रस्त न करें।[29] चीनी यात्री **फाह्यान** (ईसवी चौथी शताब्दी) ने भी बताया है कि उन दिनों मठों को खेत, बगीचे और चौपाये दान में दिए जाते थे। गुप्त काल से विकसित सामंतवाद बाद की मंजिलों में बहुत बढ़ गया था। इससे एक नए पुरोहित वर्ग का उदय हुआ जो धर्म और ईश्वर के नाम पर विराट भू-क्षेत्रों पर सामन्ती अधिकारों का प्रयोग करता था।

दास प्रथा के अन्तर्गत पुरानी और तुलनात्मक वर्णाश्रम व्यवस्था सरल चार वर्णों की थी पर मध्ययुग तक आते-आते इसका रूपान्तरण क्रमशः जातियों की एक नई और अत्यन्त जटिल और अनेकानेक शाखाओं वाली प्रणाली में हुआ। मध्ययुगीन सामन्ती समाज की व्यवस्था पुराने वर्णों के साथ अनेकानेक व्यवसायों में संलग्न कबीलों का विचित्र सम्मिश्रण थी। कुछ कबीले मुख्यतः खेत करनेवालों के थे (जुताई-बुवाई-कटाई आदि के) कुछ अन्य मवेशी पालनेवाले, चरागाहों के तथा कुछ मछली पकड़ने वाले धीवर-केवटों-पनिहारों के। कुछ कबीले दस्तसाजी राजगीर और कला-प्रवृत्तियों के थे। चमड़े का काम, भवन निर्माण, लोहा-लकड़ी ताम्बा-पीतल के काम में दक्षता प्राप्त दल। इस प्रकार मध्ययुगीन सामन्ती समाज असंख्य जातियों-उपजातियों की एक कल्पनातीत भूल-भुलैया बन गया। **'शुक्रनीति'** में तो कुछ रीति-रिवाज बड़े-दिलचस्प हैं—कि राजा को विभिन्न जातियों और संप्रदायों के रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।[30] मध्ययुग में इस्लाम के आगमन से वर्णाश्रम व्यवस्था एवं विविध जातियों की परम्परा को चुनौती जरूर मिली पर कालांतर में भारतवर्ष की जाति-प्रथा ने इस्लाम एवं क्रिश्चियन ख्रिस्ती-व्यवस्था को कम प्रभावित नहीं किया है। आज भी सैय्यद और अंसारी में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं है और न ही गोवा-केरल रोमन कैथोलिकों के ब्राह्मण वर्ग और निम्न वर्ग में कोई रिश्ता-नाता हो पाता है।

कहना न होगा कि उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में हूणों-शकों, ग्रीक-यवनों एवं तुर्कों-मुगलों के जो विभिन्न दल अनेकानेक कालखण्डों में आते रहे हैं वे या तो लूटमारकर वापिस लौट जाते थे अन्यथा भारतवर्ष की जाति-व्यवस्था जटिल समाज संरचना में अपना अस्तित्व विलय कर लेते थे। उत्तर-पूर्व में बौद्ध और ब्राह्मण वर्ग की टकराहट थी तो दक्षिण प्रांत में वैष्णव और शैवों की टकराहट मुख्य रही है। अतः सामंतवादी मध्यकालीन दौर में ही विभिन्न जनजातियों एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच **वैष्णव** और **बौद्ध** परम्परा के बीच टकराहट एवं पुनरुत्थान की प्रवृत्ति लगातार सक्रिय रही है। 6-7वीं शताब्दी के **आलवारों** और आठवीं शताब्दी **शंकराचार्य** के मत-मतान्तरों द्वारा घटित होकर यह सर्व भारतीय प्रक्रिया केरल,

कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तरप्रदेश, राजस्थान में प्रसारित होते हुए 13-14वीं शताब्दी में कश्मीर तक फैल जाती है।

13वीं शताब्दी में ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र के भीतर गीता का नया भाष्य ज्ञानेश्वरी मराठी में रचते हैं और भक्ति के अन्तर्विरोध को, वैचारिक आदर्श की श्रेष्ठता तथा आचरण की निकृष्टता को सामने ले आते हैं। ब्राह्मण वर्ग द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषण और निम्नवर्ग अन्त्यज के शोषण की प्रक्रिया को कबीर, नानक, सर्वज्ञम, वेमन्ना के संरक्षण से हम अखिल भारतीय जनजीवन में देख पाते हैं। निर्गुण संतों, सूफी विचारकों (निजामुद्दीन औलिया और ख्वाजा बन्दे-नवाज), दक्खिनी कवियों मुकीमी, नुसरती, निजामी, मीरा हाशमी तथा श्री चैतन्य के फलस्वरूप भक्ति, उपासना, इबादत और जनचेतना का नवरूपायण होता है। बंगाल, आसाम और मणिपुर में कृष्ण और विष्णु की वैष्णवी उपासना का नवोत्थान एक नई लहर लेता आता है।

विभिन्न जनजातियों—द्रविड़-आर्य जातियों का हूण-शक-आभीरों से संघर्ष (थीसीस), ग्रीक-यवन जातियों का बौद्धों-जैन से संघर्ष (एण्टी थीसिस), कालान्तर में इस्लाम के प्रादुर्भाव से वर्ण-व्यवस्था से टकराव एवं मिली-जुली सामाजिक व्यवस्था (सिन्थेसिस) काल-युग की दार्शनिक नींवों पर गहरा आघात करता है। विभिन्न जातियों, वर्ण-व्यवस्था की उपजातियों, कारीगरों-श्रमिकों की अनहद पेंचीदगियों से मध्ययुगीन सामन्ती समाज जो अन्तरावलम्बन ग्रहण करता है वह किसी भी दार्शनिक चिन्तक, इतिहासकार या समाजशास्त्री के लिए गम्भीर चुनौती है।

मध्यकाल के सामंती समाज में विभिन्न जनजातियों के ध्रुवीकरण और धार्मिक-तांत्रिक मत-मतान्तरों की पेंचीदगियों में कहीं सहिष्णुता, समानता और मानवता के भावों का प्रादुर्भाव होता है, जो सूफी दर्शन, अद्वैतवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध का प्रतिफल है तो कहीं शैव-दर्शन एवं बसव-दर्शन के अनुरूप जाति प्रथा का निषेध प्रबल होकर नारी-वर्ग को सम्मान देने की पेशकश रचता है। उत्तर-पूर्व क्षेत्र में नारी को हीन दृष्टि से देखा गया। सामंतवादी-पुरुषवादी प्रवृत्ति के अनुरूप, तो दक्षिण-पश्चिम में वह श्रम की भागीदार और भक्ति-वत्सला पात्र भी मानी गई। मीरा, अक्का महादेवी और आण्डाल देवी का साहित्य इसका प्रमाण है। भक्ति की जो लहर मध्ययुगीन दौर में उपजी वह सारे देश में पुनर्जागरण के रूप में लहलहा उठी। जिससे एकबारगी उत्तर-पूर्व, पश्चिम-दक्षिण के भेदभाव मिटते हुए प्रतीत होने लगे। श्रीमद्भागवत पुराण में आए हुए माहात्म्य के अनुसार यह उक्ति प्रसिद्ध है कि मैं द्रविड़ में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में मेरा पोषण हुआ, गुर्जर में जीर्ण हुई, खण्डिता हुई, और वृन्दावन पहुँचकर नए सिरे से फिर सम्पृक्ति उत्कृष्ट रूप प्राप्त कर नवयुवती हुई। यथा—

"उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धि कर्नाटके गता
क्वचित क्वाच महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्ण ताम।"

भारतीय साहित्य के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में, मानवीय उत्कर्ष, जिजीविषा, इतिहास और संस्कृति की यह लीला उत्तर और दक्षिण में मथुरा और मदुराई केन्द्र में समानान्तर रूप से चलती रही। कहा भी जाता है—"भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानन्द।"

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य को **पुनर्जागरणकाल** के साहित्य की संज्ञा दी जाती है; पर उसका **बीजवपन** हम दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम भाषा साहित्य में मान सकते हैं। कारण तमिल ढाई हजार वर्ष पुरानी भाषा है, संस्कृत के बाद द्वितीय स्थान तमिल का ही है। संघम साहित्य में प्रणेता अगस्त्य ऋषि हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में **शिलप्पदिकारम** जैसा महाकाव्य कवि **इलंगो अडियल** ने चेर राजवंश की छत्रछाया में रचा है। 'शिलप्पदिकारम' महाकाव्य में साहित्यिक शैली, संगीत और नाटक तीनों का मिश्रण है। अडिगैल के समकालीन कवि **कूलवणियम** ने **मणिमैकले** महाकाव्य की रचना की है, जो वीरांगना माधवी और उसकी कन्या मणिमैकले का कथा विस्तार है, जो पहले के महाकाव्य **शिलप्पदिकारम** की नायिका है।

दर्शन, विचारधारा और साहित्य संस्कृति में (ईसा की छठी शताब्दी में) जो परिवर्तन भारतवर्ष में हुए वे ऐतिहासिक महत्त्व के साथ-साथ युगान्तकारी परिवर्तन हैं। तमिल भाषा में ही छठी शताब्दी में दौरान तिरुमुलर और करैकल अमैयार ने पुनर्जागरण का आन्दोलन शुरू किया। जैन और बौद्ध धर्मों पर शैव और वैष्णवों के आघात-प्रत्याघात शुरू हुए। **शैव मन्दिरों** में गाया जाने वाला **'तिरुवाचकम'** इसी काल में लिखा गया। इसी काल में तीन महान सन्तों—अप्पर, सुन्दरा और सम्बन्दर के लिखे सूक्त भी 'तेवारम' नाम से संगृहीत हुए। 12वीं शताब्दी में तमिल कवि सेक्किलर ने **शैवों** के **पेरियपुराणम** ग्रंथ को रचा।[31]

तेलुगू भाषा में 13वीं शताब्दी के दौरान सोमनाथ ने **'वासव पुराण'** और **'पण्डितराज चरित्र'** शैव आन्दोलन के समर्थन में रचे हैं। जाति-वर्ण की संकीर्णता का निषेध कन्नड़ भाषा-साहित्य में 12वीं सदी में ही प्रारम्भ हुआ। जिसके कवि-नेता वीर शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक **बसवेश्वर** रहे हैं। वचन साहित्य को बसव अल्लमप्रभु और अक्क महादेवी ने समृद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

बौद्ध दर्शन और उनके प्रचारक बंधुओं ने विभिन्न जनजातियों के संस्कृति में, भावनापरक एकीकरण का प्रयत्न किया। ब्राह्मण सत्ता का निषेध रचकर जाति-भेद की विषमता को कम किया। आवागमन की दिक्कतों के बावजूद जैन श्रमण और बौद्ध प्रचारक विभिन्न प्रान्तों में अनथक यात्राएँ किया करते थे। आश्चर्य होता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के कर्नाटक-गोवा-महाराष्ट्र प्रांतों में

जैन मन्दिर निर्मित हो जाते हैं और बौद्ध दार्शनिक दूसरी शताब्दी में पूर्व-दक्षिण के सुदूर प्रान्तों में चैत्य, विहार कायम कर लेते हैं। बौद्ध-तांत्रिक नागार्जुन के समय (ईसा पूर्व 300) नागार्जुन कोंडा (वर्तमान नागार्जुन सागर-आंध्रप्रदेश) में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ निवास करती थीं। नागार्जुन कोंडा की खुदाई में प्राप्त अश्वमेध घाट और सर्वदेव मन्दिर आदि के अवशेष यही प्रमाणित करते हैं कि 2300 वर्ष पूर्व ब्राह्मण और श्रमण धर्म गलबाँही डाले दक्षिणी प्रांतों में कहीं-कहीं सहजीवन के साक्ष्य रचते हैं और कहीं-कहीं वैचारिक टकराव का वातावरण निर्मित करते हैं।

सांस्कृतिक अन्तरावलम्बी भावना का यह विचित्र तिलिस्म है कि आन्ध्र सम्राट ब्राह्मण-वर्ण-वर्ग एवं अश्वमेध यज्ञ करने वाले पराक्रमी सम्राट थे तो उनकी रानियाँ बौद्ध धर्म व दर्शन में आस्था रखती थीं। वास्तु शिल्प का तत्कालीन परस्परालिंगन एवं निरपेक्षता भाव महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के प्रसंग में जितने मत प्रवर्तकों के नाम आदर से लिए जाते हैं उनमें श्री सम्प्रदाय और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक रामानुजाचार्य, ब्राह्म सम्प्रदाय और शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक वल्लभाचार्य और द्वैताद्वैतवाद के निम्बकाचार्य दक्षिण प्रान्तों के ही हस्ताक्षर रहे हैं।

केरल-कालडी के शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में उत्तर और दक्षिण के चार धार्मिक केन्द्रों बदरिकाश्रम, रामेश्वर, भुवनेश्वर और द्वारिकाश्रम को सांस्कृतिक सेतु का स्वरूप प्रदान किया था। यह भी विलक्षण सत्य है कि विभिन्न दार्शनिक वैचारिक दृष्टिकोणों का भावात्मक और साहित्यिक विनियोग उत्तर भारत में हुआ। केदारनाथ, काशी, काँची-अवन्तिका, मथुरा-हरिद्वार, नासिक-रामेश्वर, तिरुपति-त्रिवेन्द्रम के स्थान उज्जैन-हरिद्वार की भाँति वैष्णव-भागवत सांस्कृतिक-चेतना के धुरी स्थल बने हैं। शक्ति पूजा व शैव आराधना के केन्द्र भी काशी, प्रयाग, उज्जैन-कलकता, कामाख्या-एलोरा के स्थापत्य रूप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

रेख्ता, हिन्दुई, दक्खिनी या कदीम उर्दू जैसी भाषा-बोली बानी हिन्दुस्तान में ही पनपी। सूफी साधनों ने इस्लाम द्वारा प्रवर्तित शरीयत तरीकत, मारिफत और बाशरा की सीमाओं से आगे जाकर बेशरा-तसव्वुक की धारा को आत्मसात किया। भारतीय बोली-बानी में पद्मावत, सबरस, चन्दरबदन और महियार, सैफुलमुलुक और बदीजमाल जैसी—क्लासिकल रचनाएँ अवधी और दक्खिनी जबान में लिखी गई हैं भले ही लिपि फारसी रही हो। उत्तर के अमीर खुसरो ने भाषा के अजनबीपन को मिटाने का ऐतिहासिक काम 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में किया और उसके व्यापक रूप का साक्षात्कार किया। यथा—

"शर्मो हया दर हिन्दी लाज
हासिल कहिए बाज खिराज"

गुलबर्गा (कर्नाटक) के ख्वाजा बन्दे-नवाज (15वीं सदी) हों या बीजापुर के

इब्राहीम आदिलशाह, उन्होंने भारतीय प्रतीकों और सांस्कृतिक बिम्बों को अपनाया। गोलकोण्डा का कुली कुतबशाह (17वीं शताब्दी) महाकवि तुलसीदास का समकालीन रहा है जिसमें दक्खिनी हिन्दी-उर्दू में 'कुल्लियात' जैसा क्लासिकल ग्रन्थ रचा है। वजही कृत 'मसनवी कुतुब मुश्तरी' प्रणय गाथाओं में अपनी सानी नहीं रखती है। इब्राहीम आदिलशाह ने विभिन्न राग-रागिनियों में नवरस नामा रचा है। जो भारतीय संगीत का पारखी होने के कारण संगीतकारों में जगद्गुरु कहलाता था। यह विभिन्न जनजातियों का सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन ही है कि मैसूर में राष्ट्रीय संघर्ष का स्वप्न देखते हुए हैदर अली अपनी क्षेत्रीय अस्मिता को बचाने के लिए काँची-पीठ के शंकराचार्य को पत्र संस्कृत में लिखते व लिखवाते हैं। भारतीय साहित्य संस्कृति में जितना महत्त्व बौद्ध गान और दूहा का है उतना ही मसनवी ग़ज़ल, मुक्तक, रुबाई में अभिव्यक्त प्रेमगाथाओं का मानना चाहिए। जो फारसी रचना शैली से आकर भारतीय जनचेतना में आत्मसात हो जाती है अपने अन्तरावलम्बन रूपी साक्ष्य में। इसीलिए कहा गया है—अरबी, तर्की, हिन्दुई भाषा जेयि आही। आहि महंत मारग प्रेम का सबेर सरा है वही।

मध्ययुगीन पुनर्जागरण की अन्तर्जटिल प्रक्रिया के कारण भक्ति साहित्य में अलग-अलग क्षेत्रों-स्थान की भाषाओं का विलक्षण प्रयोग हुआ है। जिससे भारतीय साहित्य की अस्मिता, विशिष्टता और विश्वदृष्टि का आधार ठेंम ज्ञानेश्वर (मराठी), शंकराचार्य (संस्कृत), विद्यापति (मैथिली-अपभ्रंश), कबीर, सूर, तुलसी (हिन्दी, ब्रज, अवधी), वेमन्ना (तेलुगू), सर्वज्ञम (कन्नड़), नानक (पंजाबी-गुरुपरवी), ख्वाजा बन्देनवाज (उर्दू-दक्खिनी) आदि के द्वारा रचा गया है। श्रीराम शर्मा और इन्द्रनाथ चौधुरी के मतानुसार यह हमारी सांस्कृतिक विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति रही है तथा विभिन्न (जनजाति) समुदाय के आश्रय से ऐतिहासिक क्रियात्मकता में प्रादेशिक (स्थान) अस्मिता का प्रसार है। "विभिन्न भाषाओं में रचित इस साहित्य में दिखाई पड़ने वाली विविधता के बावजूद एक आत्मविश्वास आस्था, मिथक तथा अनुश्रुतियाँ इनमें विषयवस्तु की एकता का पता देती हैं। विषयवस्तु का सर्व भारतीय स्वरूप द्वंद्व और समझौते की स्थितियाँ पैदा करता है, क्षेत्र और देश की सम्पूरकता का एहसास कराता है। (इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 10)

कहना न होगा कि सामंतवादी ईसा-पूर्व (चौथी शताब्दी) के प्रारम्भिक दौर से लेकर ईसवी सन् 15वीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक प्रक्रिया में पौर्वात्य और पाश्चात्य की सीमान्त रेखाएँ एक-दूसरे में अन्तर्विलयित होती हैं। राहुल सांकृत्यायन, राधाकमल मुकर्जी, श्रीराम शर्मा और इन्द्रनाथ चौधुरी के साक्ष्य से भारतीय साहित्य का विशाल परिप्रेक्ष्य विभिन्न जनजातियों और सांस्कृतिक परम्पराओं का ऐतिहासिक सम्मिश्रण प्रतीत होता है। अनेकानेक देशों को प्रभावित

करता है। वहीं दूसरी ओर भारतीय साहित्य का विश्लेषण करने पर हिन्दू-बौद्ध और आर्य-द्रविड़ परम्परा अरबी-फारसी परम्परा को आत्मसात करती दिखाई पड़ती है। पंजाब के सूफी कवि फरीद लाल हुसैन, बुल्लेशाह और दक्षिण के दक्खिनी कवि शाह तुराब और कुली कुतुबशाह सभी ने **सूफी प्रेम तत्त्व** को एक नया रूपक प्रदान किया है, जो धर्म विज्ञान के धरातल पर **हिन्दू-वैष्णवों** के रहस्यात्मक प्रेम तत्त्व से भिन्न है परन्तु साहित्यिक धरातल पर ईश्वरीय प्रेम की इन काव्यमय अभिव्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं है। और ऐसे भी **सूफी प्रेम काव्य** का **हिन्दू काव्य** में क्रमशः अंतर्भाव हो जाता है। जिससे भारतीय साहित्य को एक नया परिप्रेक्ष्य मिल जाता है। (इन्द्रनाथ चौधुरी : तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 84) जिसका सम्यक् मूल्यांकन राहुल सांकृत्यायन, श्रीराम शर्मा, सैयदा जाफर, इकबाल अहमद, परमानंद पांचाल और रोहिताश्व आदि ने कदीम उर्दू और **दक्खिनी** काव्य के सन्दर्भ में किया है।

मध्यकालीन सांस्कृतिक समन्वय की सृजनात्मक अभिव्यक्ति

भारतीय साहित्य का **मध्ययुगीन दौर** कई विलक्षण और समानान्तर रूप से विरोधी प्रवृत्तियों के सामंजस्य को अपनाए हुए है। जिसे हम **सामाजिक संस्कृति** की सृजनात्मक अभिव्यक्ति में **विरुद्धों का सामंजस्य (Unity of Opposition)** मानते हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत में जहाँ **निर्गुण** साधना (ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी सूफीवादी और समन्वयवादी) पद्धति का जोर था वहीं पूर्वी भारत में सगुण परम्परा (**वैष्णवी-रामाश्रयी-ज्ञानाश्रयी**) सक्रिय थी। मध्यभारत महाराष्ट्र में शैव और वैष्णव **का द्वैत नहीं** था। ज्ञानेश्वर (13वीं शती), नामदेव (13वीं शती), तुकाराम और **त्यागराज** आदि मध्ययुगीन संतों ने समाहार प्रवृत्ति को अपनाया।

लेकिन नारी-वर्ग के प्रति सम्मान या समादृता की भावना कम रही है, चाहे वह कबीर की निर्गुण पद्धति हो या तुलसी की सगुण, उसे महाशक्ति, त्रिपुरसुन्दरी, का पर्याय मानते हुए भी **माया, अवगुणों की खान** और नैतिक पराभव का कार्य, कारण माना गया।

परन्तु **दक्षिण** भारत और काश्मीर के शैव सम्प्रदाय तांत्रिक साधना, वैष्णव मत-मतान्तरों में **नारी** को उतना लांछित या अपमानित नहीं किया। काश्मीरी शैव मत के अनुसार "शिव अर्थात् अपरिमित चेतना ही एकमात्र यथार्थ है, वह अद्वितीय है जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है। शिव अपने अन्दर निहित अद्भुत **शक्ति** के माध्यम से ब्रह्माण्ड के रूप में स्वयं को प्रकट करते हैं। शक्ति में अनेक गुण हैं—चित्त, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया और माया।" इसी सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि काश्मीरी शैव मत के अनुसार शक्ति न तो भ्रम है और न ही इस ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण है। वह तो शक्ति का वह पक्ष है, जिसके

द्वारा शिव अपने को ब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। कहना न होगा **काश्मीरी शैव दर्शन** आठवीं अथवा नौवीं शताब्दी में शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के प्रभाव एवं प्रतिक्रिया में एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में पनपा था।

बारहवीं शताब्दी के मध्य आन्ध्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रांत में लिंगायत और वीर शैवों के **शैव सम्प्रदाय** की स्थापना बसव कल्याण ने 1160 में की थी। जिसने वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिरोध कर नारी का सम्मान और श्रम की महत्ता प्रतिपादित की। उनके अनुसार, "मनुष्य इस ब्रह्माण्डीय योजना में स्वयं को समझे, पतनोन्मुख धर्म में नई भावना फूँकी जा सके, **महिलाओं को समानता** का स्तर और स्वतन्त्र **दृष्टिकोण** मिले जात-पाँत के भेदभाव को खत्म किया जा सके, किस्म-किस्म के रोजगारों और शारीरिक श्रम को प्रोत्साहन मिले और जीवन में सादगी और उद्देश्यपरकता आए।" (के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 287) मध्यकालीन दौर में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक उपक्रम और आचार-व्यवहार प्रचलित रहे हैं। भारतीय स्थापत्य में एक ओर एलोरा-अजन्ता की शैव-वैष्णव-बौद्ध मूर्तियाँ हैं तो कोणार्क-खजुराहो में मिथुन आदिम यौन भावना सम्मत आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मूल्य चेतना के स्तर पर **धर्म** और **अर्थ** मुख्य है तो समानान्तर रूप में **काम** की अवधारणा भी **मोक्ष** से कम स्पृहणीय नहीं है।

मध्ययुगीन सामंतवादी दौर में आर्य-पूर्व सभ्यता के अवशेषों के सक्रिय रहने एवं मातृसत्तात्मक उपासना पद्धतियों के प्रभाव से भारत में विभिन्न प्रान्तों में देवी-माता अथवा धरती-माता का महत्त्वपूर्ण पुनरुत्थान हुआ। **एरेन फेल्स** ने कहा है, "हड़प्पा और मोहनजोंदड़ो की खुदाई से दो बुनियादी तथ्य सामने आए हैं– (1) जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं उसके सांस्कृतिक ढाँचे में आर्य पूर्व तत्त्व का आधिपत्य। (2) इस आगे बढ़ी हुई आर्य-पूर्व सभ्यता का **मातृसत्तात्मक** स्वरूप, जिसके प्रति मध्ययुगीन और वर्तमान भारत कई तत्त्वों, प्रेरणाओं और सांस्कृतिक ढाँचे के लिए ऋणी है।"[35]

मध्ययुगीन दौर में ही देवी माता को अब एक सम्मानपूर्ण विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। चाहे वह काश्मीरी शैव सम्प्रदाय (8वीं एवं 9वीं शती) हो अथवा केरल में शंकराचार्य द्वारा रचित चण्डी स्तोत। देवी-शक्ति नारी तत्त्व ही है। जो पुरुष तत्त्व का पूरक है। क्रिया के बिना ज्ञान मृतज्ञान होता है और शक्ति के बिना शिव भी शव के समान ही शक्तिहीन रह जाते हैं। वह शक्ति के बिना न तो सृष्टि रच सकते हैं, न संहार कर सकते हैं। शक्ति के अन्य नाम भी हैं, जैसे दुर्गा, भुवनेश्वरी, काली और भगवती। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका उद्भव प्राचीन देवी माता से हुआ है, जिनका असंख्य प्रतिनिधित्व ग्रामदेवियों (शीतला माता, पतवारीमाता, सातेरी माता, मैसम्मा) के रूप में मध्ययुगीन दौर में तो क्या, वर्तमान आधुनिक युग में भी जारी है।

नारी-सत्ता विश्व के अर्द्धभाग का प्रतिनिधित्व रचती है, अतः साहित्य-संस्कृति-दर्शन में नारी-सत्ता और उनकी सृजनात्मकता की अवहेलना नहीं की जा सकती है। सुधीजन जानते हैं कि सामंतवादी दौर की विभिन्न जनजातियों एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के पुनरुत्थानवादी दौर में मातृसत्तात्मक प्रणाली की देवी माता को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ था। वैष्णव परम्परा में वह लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा आदि के रूप में आराधक शक्ति बनी रही तो तांत्रिक साधना में चार्वाक दर्शन के परवर्ती दौर लोकायत और महायान परम्परा में गुह्यसाधना का माध्यम बनी।

भारतीय साहित्य के विभिन्न क्षेत्रीय उपादानों में मदुराई की **मीनाक्षी देवी** जो पुराने दिनों में प्रसिद्ध देवी नहीं थी, किन्तु सांस्कृतिक पुनर्जागरण में वह शैवमत की अभिवृद्धि के साथ शिव की पत्नी मानी जाने लगी। केरल में भगवती की और मैसूर में **चामुण्डी** की, बंगाल में **दुर्गाकाली माता,** अब भी अत्यन्त लोकप्रिय देवी के रूप में पूजा होती है। बौद्ध-दर्शन व साहित्य की थेर गाथाओं में नारी शक्ति की महिमा वर्णित तो है ही साथ ही राजस्थान की जीन माता, सारंगासा माता, गुजरात की गरबा प्रणाली, समस्त उत्तर भारत, मध्यप्रदेश और उत्तरांचल में गौरी-पूजन प्रणाली से लेकर भारत के धुर दक्षिणी छोर के कुमारी **अन्तरीप** के मन्दिर में स्थित कन्याकुमारी जो एक जमाने में केवल पाण्ड्य शासकों की कुल-देवी मानी जाती थी। आज भी एक लोकप्रिय मातृशक्ति है। यही स्वरूप जम्मू स्थित वैष्णो देवी का है पर साहित्यिक प्रमाण हमें शास्त्र में नहीं बल्कि लोक साहित्य में मिलते हैं। लोक और शास्त्र का अंतःसंघर्ष क्या हमारे साहित्य सृजन की द्वंद्वात्मकता (डायलेक्टिक्स) का प्रमाण नहीं है।

साहित्य, स्थापत्य, समाजशास्त्र के अध्येता जानते हैं कि महाराष्ट्र के एलिफेंटा की त्रिमूर्ति (शिव, अघोर भैरव और उमा, महाकाल, महामाया तत्पुरुष) एक समय भारत तथा गांधार, तुर्किस्तान और कम्बोडिया में सुपरिचित थीं। **चीन** की **युन काङगुफा** में इसे पाया जाता है तथा **जापान** की **दाई इतोकू** यही है। यह शिव-त्रिमूर्ति भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विषयवस्तु का अद्वितीय और व्यापक प्रतीक है; तथा यह विषयवस्तु है—**'अस्ति'** अथवा **शिव-आत्मन** की **प्रभुता** तथा चेतना का ऐक्य, भारतीय अस्ति और आवि, **ब्रह्म** और **माया** का ऐक्य, भारतीय दर्शन में जिसका प्रतीक और व्याख्या है **पुरुष** और **स्त्री** का द्वैत सिद्धान्त... दरअसल यह मूर्ति पुरुष और प्रकृति के आदिकालीन तीन रूपों को व्यक्त तो करती है, फिर भी यह स्वाराध्य देवता की मूर्ति नहीं है। यह तो धर्म और सामाजिक परम्परा से परे एक प्रजातीय प्रक्रिया, मानवीय आत्मा के रूपान्तरण का प्रतीक और आवाहन है।"[6]

मध्ययुगीन साहित्य और संस्कृति, स्थापत्य और दर्शन की वीथियों के कई अनसुलझे प्रश्न सुलझाने की जिम्मेदारी क्या नए अनुसंधानकर्ताओं की होगी? या

हमारा तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग भी कभी राहुल सांकृत्यायन, श्रीराम शर्मा, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा अथवा इन्द्रनाथ चौधुरी की राह अख्तियार कर पाएगा?

वैसे तो भारतीय साहित्य के मध्यकाल को प्रायः **पुनर्जागरण काल** की संज्ञा दी जाती है। जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध और मानवीय मूल्यों के आत्मसातीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। ईश्वर, खुदा और नियामक शक्ति के सामने मनुष्य मात्र को आराधना, ईबादत और भक्ति-साधना करने का सम्यक् महत्त्व प्राप्त था। बौद्ध विहार की अतियों, चार्वाक-लोकायत मत की पुनर्मीमांसा, वार्ता, टीका, भाष्य की पुनरावृत्ति और सिद्धों-नाथों की तांत्रिक उपासना पद्धति की पुनर्व्याख्या क्या पुनर्जागरण काल में सम्भव हो पाई है?

यह अलग प्रश्न है कि मध्ययुगीन भारतीय साहित्य **स्वर्ण** काल है **पुनर्जागरण** के सन्दर्भ में? अथवा प्रादेशिक भाषा-साहित्य में निम्नवर्ग के साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में सम्यक् भाव से शामिल होने के सन्दर्भ में? यह काल **नवजागरण** है शास्त्र की टक्कर में, **लोक-परम्परा** के विकास के कारण अथवा इसकी प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के समाज सुधार आन्दोलन और स्त्री-शिक्षा के प्रचार तक जारी रहती है। तथा इसका व्यापक फलक स्त्री-विमर्श एवं दलित-विमर्श की इन्तहा तक खींचा जाए?

मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य को विद्यानिवास मिश्र भाववादी ब्रह्मवादी सरणि से **भक्ति भाव**, आस्था, पूजा-उपासना (नवधा भक्ति) की परिसीमा में घटाना चाहते हैं तो के. दामोदरन, राधाकमल मुकर्जी, कुँवरपाल सिंह, रामविलास शर्मा आदि उसे युगीन अन्तर्विरोधों (विरुद्धों के सामंजस्य) में विवेचित करते हैं जो **वैचारिक द्वंद्व** और **समझौते** की प्रक्रिया को रेखांकित करता है।

मध्ययुगीन सामन्तवादी दौर में किन प्रवृत्तियों, विचारधाराओं एवं दार्शनिक अभिव्यक्ति में टकराहट एवं विद्वेष की भावना रही है और किन विचार परम्पराओं ने अतीत की श्रेष्ठ अवधारणा को आत्मसात कर युगीन चुनौतियों का सामना किया है। इसे **'समग्रता'** (totality) में जाँचे बगैर सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का प्रश्न व समाधान अधूरा रहेगा और सृजनात्मक अभिव्यक्ति के हाशिए ही धुंधले रहेंगे।

सांस्कृतिक चेतना की केन्द्रीय धुरी अगर अतीत के चार्वाक-लोकायत परम्परा में होगी तो सिद्धों, नाथों की परवर्ती परम्परा उसी का अन्यतम विकास प्रमाणित होगी। उदाहरण के लिए महाकवि-शास्त्रज्ञ कवि **तुलसी** अपने अवचेतन में **कबीर** की लोकचेतना और वर्णव्यवस्था के प्रतिरोध की भावना से संत्रस्त रहते हैं तो इसके कार्य-कारण सांस्कृतिक दूरियों के साथ-साथ मनोविश्लेषण की सरणियों में तलाशे जाने चाहिए। बेचारे **बच्चन सिंह** जैसे समीक्षक दक्खिनी भाषा के वजही शाह तुराब, मुकीमी आदि की सृजनात्मक अभिव्यक्ति को अपने अधकचरे ज्ञान के कारण फारसी परम्परा का अनुसरण बता देते हैं तो दोष उनके आलोचकीय अज्ञान और काहिली का है, जिससे वे भारतीय साहित्य के ओर-छोर को देख नहीं

पाते हैं। हर आलोचक राहुल सांकृत्यायन जैसी ऐतिहासिक दृष्टि, हजारीप्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि, रामविलास शर्मा की तरह तलस्पर्शी-प्रगतिशील दृष्टि अथवा नामवर सिंह जैसी अर्थ मीमांसा की दृष्टि नहीं अपना सकता है पर उनकी परम्परा में 'समग्रता' और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की विश्लेषण क्षमता के चेतना कणों को तो सहेज सकता है।

बौद्ध हो या वैष्णव सृजक, ब्राह्मण ग्रन्थ हो या आरण्यक, चार्वाक लोकायत हो या षड्दर्शन; वे हमारे अतीत के चेतना-स्मारक हैं; पर भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा उससे अविभक्त ही मानी जाएगी। कहना न होगा कि चार्वाक-लोकायत की परवर्ती कड़ी सिद्ध और नाथ है। सुधीजन जानते ही हैं कि उनमें भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के नाथ और सिद्ध शामिल रहे हैं। सरहपाद, विरूपा और मुसुपा आदि नालन्दा विहार के नियमित छात्र रहे हैं। बौद्ध दर्शन के पण्डित लुईपा, चौरंगीपा, कुर्मपा नालंदा और विक्रमशिला के स्नातक रहे हैं। भक्ति की लहर और निर्गुण साधकों की वर्णाश्रम व्यवस्था विरोधी लहर भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक चेतना का अनिवार्य पड़ाव है, जिसके बीज हमें तमिल भाषा के पाँचवीं शताब्दी वाले साहित्य (निम्नवर्ग के साधक) कन्नड़ भाषा की ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी के बसव साहित्य तथा अपभ्रंश-प्राकृत के साहित्य में परिलक्षित हो सकते हैं। तत्सम्बन्धी सृजनात्मक अभिव्यक्ति कबीर, दादू, नानक, नामदेव, पीपा और सेन आदि की रचनाओं में है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की इस विवादास्पद स्थापना में काफी दम-खम है कि "अगर भारतवर्ष में इस्लाम न भी आया होता तो हमारा भक्तिकालीन साहित्य लगभग बारह आना वैसा ही होता...जो अब है!" किस्सा कोताह यह है कि भारतीय साहित्य-संस्कृति की पुनर्व्याख्या और पुनर्व्यवस्था करने में चार्वाक-लोकायत, नाथों और सिद्धों के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। नाथ और सिद्ध सामन्तवादी दौर के मध्ययुगीन काल में पहले जातिवाद और वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता पर चोट करते हैं और जीवनपद्धति की कृत्रिमता के विरुद्ध सहजवाद और सामरस्य के दर्शन को उजागर करते हैं। भारतीय जनमानस के मन-मस्तिष्क में छाई हुई काई को धोने का काम नाथों और सिद्धों ने ही किया था जिसका सिलसिला आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक जारी रहा है। सिद्धों और नाथों के अनेक शिष्य पंजाब, बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक-गोवा आदि में सक्रिय रहे हैं।

सिद्धों के अनेक शिष्य मुसलमान भी थे जैसे चौरंगीप्पा। नाथ सम्प्रदाय में मार्गदर्शक गुरु महन्त नहीं कहलाते हैं बल्कि पीर कहलाते हैं। मार्गदर्शक गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि उत्पत्ति से हम हिन्दू हैं, जीर्णता और परिपक्वता से योगी हैं और अक्ल से मुसलमान हैं। गोरखनाथ का प्रसिद्ध दोहा है–

उत्पति हिन्दू जरणा जोगी अक्लि पीर मुसलमानी।
ते राह चीन्हों हो काजी मुलां ब्रह्मा बिरह महादेव मानी।

मध्यकाल की गोरखनाथी परम्परा का विकास भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों और जनभाषाओं के साहित्य में परिव्याप्त है। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, पंजाब के बाबा फरीद, बुल्लेशाह, नानक, बनारस के कबीर, जायस के जायसी, आन्ध्रप्रदेश के नन्नया, तिकन्ना, वेमन्ना, कर्नाटक के सर्वज्ञम, बसव, अक्क महादेवी, अल्लमप्रभु आदि पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सिद्धों और नाथों के प्रभाव को अवलोका जा सकता है।

मध्ययुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में विविध वर्णों और जातियों के लोगों ने समन्वित भाव से अपना-अपना योगदान दिया है। विशुद्ध हिन्दुत्व, विशुद्ध आर्य और विशुद्ध मुस्लिम की बात एक राजनैतिक षड्यन्त्र और कुत्सित भावना का रूपक है। हिन्दुओं के साथ-साथ मुस्लिम, ईसाई, पारसी और सिक्ख जाति आदि का योगदान मध्ययुगीन साहित्य व संस्कृति में कम नहीं है। पंजाबी साहित्य के अधिकांश प्रारम्भिक निर्माता शुरू में मुसलमान थे। अब्द, अब्दी या आशी नाम से लिखनेवाले अब्दुला ने 17वीं शताब्दी में धार्मिक विश्वासों व कर्तव्यों पर अपना 'बारा-अन्वा' लिखा है। तो 20वीं शताब्दी के शुरू में गुलाम हुसैन ने **नूरे हिदायत** की रचना की है।[37] तमिल भाषा साहित्य में 16वीं शती में राबर्ट दी नोबिली ने तत्त्वबोधक स्वामी नाम से अनेक ग्रन्थ रचे हैं तथा तमिल पुर्तगाली कोश भी रचा है। (भगवतशरण उपाध्याय, वही, पृ. 26)

सांस्कृतिक समन्वय की विराट चेष्टा निर्गुणसाधकों, विभिन्न संतों और सूफी चिन्तकों ने की है। मध्ययुगीन ही नहीं बल्कि आधुनिक भारत भी वेदांत दर्शन और सूफी दर्शन के सांस्कृतिक समन्वय के लिए निम्नवर्ग के संतों, साधकों, अन्य मतों और सूफी दरवेशों का ऋणी है। सूफियों के मतानुसार केवल **निःस्वार्थ** और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण व्यक्ति ही **'ईश्वरीय सारतत्व'** को प्रतिबिम्बित कर सकते थे और यह केवल प्रेम के द्वारा सम्भव था। जो अनिवार्यतः ईश्वर से उनका सामीप्य स्थापित करेगा।

तसव्वुक याने सूफी मत का रहस्यवादी सारतत्व था कि परमानन्द की अवस्था में ईश्वरीय चेतना का गहन अनुभव। अपने अतार्किक रहस्यवाद की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत करने के प्रयास में सूफी प्रायः ही उपनिषदों और वेदान्त की शिक्षाओं पर निर्भर करते थे। कुछ सूफियों ने तो खुलेआम स्वीकार तक किया कि सूफी विचार वेदांत के विचारों के समरूप हैं। अकबर के पोते शाहजादा **दारा शिकोह** ने मिसाल के लिए **'मजमौल-बहरेन'** के प्राक्कथन में लिखा कि सूफियों और वेदान्तियों के अद्वैतवाद में अन्तर केवल शाब्दिक है।[38] बावन उपनिषदों के फारसी अनुवाद 'सिर्र-ए-अकबर' में उसने यहाँ तक घोषणा की है कि कुरान तो

उपनिषदों में निहित है।[39] दारा शिकोह ने यह भी कहा कि उषनिषदों का सारतत्व और इस्लाम का सारतत्त्व एक ही है। "खुदा के अलावा कहीं और कुछ नहीं है," उसने घोषणा की थी कि "ओ खुदा को ढूँढ़ने वाले! तू उसे सब जगह ढूँढ़ रहा है। अरे तू ही खुदा है, तू उससे जुदा नहीं है।"[40]

इब्न अल अरबी (1165-1240) ने तसव्वुक इस्लामी रहस्यवाद की युगानूकूल व्याख्या करते हुए कहा है कि "खुदा हर जगह है। अतः जात-पाँत, भेदभाव का विरोध कर प्यार और खुलूस से रहा जाए।" वेदान्त की तरह सूफी मत भी अनेकानेक पंथों में बँट गया। जो धर्म परिवर्तन की जगह आध्यात्मिक अनुशासन को महत्त्व देता रहा है। बारहवीं से सोलहवीं शताब्दियों के बीच कितने ही सूफी पंथों की स्थापना हुई। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी, शतारी, और नक्शबंदी पंथ सर्वाधिक शक्तिशाली थे। शेख निजामुद्दीन औलिया चिश्ती पंथ के श्रेष्ठतम संतों में से एक थे। इस पंथ की स्थापना मोइनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर में की थी। उन्होंने लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। नूर नवी कहते हैं कि "मुस्लिम विजेताओं ने भारतीय जनता के क्रोध को उभारा था परन्तु सूफियों ने पावन चरित्र, नैतिकता और मानवता के गहन प्रेम से उन्हें नया सहिष्णुता का मार्ग प्रदान किया।"[41]

भारतीय साहित्य और संस्कृति में विविध जातियों, वर्णों, मत-मतान्तरों के बीच कतिपय मनीषी ऐसे भी रहे हैं जिन्होंने सांस्कृतिक समन्वय, जातीय सौहार्द्र और मानवीय उदात्तता के सृजनात्मक स्वप्न रचे हैं। उनके समवेत प्रयत्न एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। विषय-व्याप्ति और चिन्तन की गम्भीरता के कारण हम संकेत में कहना चाहेंगे कि कबीर, जायसी, तुलसी, अमीर खुसरो, ख्वाजा बन्देनवाज, फरीदशाह, राबर्ट दी नोबिली आदि-आदि का साहित्य अपनी 'समग्रता' में भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के विराट सामंजस्य और एकीकरण का प्रमाण है। जो विभिन्न मत-मतान्तरों के मानवीय पक्षों को बल देकर समन्वय की दृष्टि को निखारता है।

अद्वैतवाद, वैष्णवधर्म, शैव साधक, शक्ति तंत्र, सिद्धों और नाथों की सहज साधना को, सूफियों की प्रेम भावना को, विभिन्न भारतीय भाषाओं के एक विराट मनोलोक की सर्जना में देखा जा सकता है। विगत अनुच्छेदों में इसकी पर्याप्त चर्चा हुई है। सांस्कृतिक समन्वय की विराट चेष्टा विचारधारा-दर्शन के साथ-साथ लोकभाषाओं में अभिव्यक्ति विशेष के कारण लोकग्राह्य अधिक हो सकी है। सार-संकेत में कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने शैव और वैष्णव, सगुण और निर्गुण भाव के एकीकरण का प्रयास किया है तो कबीर ने उससे पहले सिद्धों और नाथों की वर्णाश्रम विरोधी व्यावधारणाओं को, हिन्दू और मुस्लिम मत-मतान्तरों के बीच निरपेक्ष भाव से मानवीय उदात्तता और व्यवहारपरक श्रेष्ठता के लिए साखी,

सबद, रमैनी आदि में सिरजा है। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर पर जहाँ श्रीमदभागवत और वैष्णव मत-मतान्तर का प्रभाव रहा है 13वीं और 14वीं सदी में; तो नामदेव-तुकाराम-जनाबाई-रामदास आदि ने वर्णाश्रम की संकीर्ण मान्यताओं का प्रतिरोध रचा है। पर शैव और वैष्णव परम्परा के समन्वित सूत्र वहाँ भी कम स्पृहणीय नहीं हैं।

नाथों और सिद्धों की परम्परा अगर तेलुगू के जनकवि वेमन्ना और कन्नड़ के सर्वज्ञडु को लोकचेतना तथा लोकसंवेदना के स्तर पर प्रभावित करती है तो यह भावात्मक स्तर पर भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। दक्षिण के आलवार और नायनार संतों में भी वर्ण और वर्ग का निषेध का भाव ईसा की पाँचवीं शताब्दी से जाग्रत रहा है।

भारत जैसे विशाल राष्ट्र में विभिन्न धर्मों, जातियों, मत-मतान्तरों का संघर्ष, प्रतिवाद और एकीकरण कोई नई बात नहीं है। पर एक ही धर्म-विश्वास मत या दर्शन से इसे देखना **वैश्विक विजन** को सीमित करने वाला कार्य होगा। उदाहरण के लिए तुलसीकृत रामचरितमानस समन्वय प्रवृत्ति का विराट महाकाव्य है लेकिन उसकी सीमा हिन्दू धर्म के मत-मतान्तरों तक ही सीमित है। यही हाल बांग्ला भाषा के कृतिवास रामायण और तमिल के कम्ब रामायण और तेलुगू के रामायणकल्पवृक्षम की है। भले ही तुलसी की सृजनात्मक अभिव्यक्ति की प्रशंसा दूसरी परम्परा के आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी कर दें कि उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, गृहस्थ और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, भाषा और संस्कृति, निर्गुण और सगुण, पुराण और काव्य का भावावेश और चिन्तन का समन्वयकारी काव्य है। पर यही अवधारणा वे भारतीय साहित्य के सृजक-मुकीमी, नुसरती, वजही, जायसी और शाह तुराब आदि के बारे में शायद समयाभाव अथवा सूचना के अभाव में अभिव्यक्त नहीं कर सके हैं।

सूफी कवियों और निर्गुण साधकों ने जितना उपकार पंजाबी, दक्खिनी हिन्दी-उर्दू, मराठी-गुजराती भाषा में सांस्कृतिक स्तर पर किया है वही स्वरूप हम शैव और वैष्णव के एकीकरण में कन्नड़ भाषा और तेलुगू भाषा साहित्य में पा सकते हैं। कन्नड़ भाषा, तमिल भाषा और तेलुगू भाषा साहित्य में जातीय ही नहीं विजातीय विचारकों ने, धर्म-परिवर्तित चिन्तकों ने अपना योगदान सिरजा है। जिसकी विवेचना राहुल सांकृत्यायन कृत **दक्खिनी हिन्दी काव्य** नामक कृति में, श्रीराम शर्मा कृत **दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य** तथा रोहिताश्व द्वारा रचित **दक्खिनी हिन्दी काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन** में उपलब्ध है। मध्ययुग से लेकर वर्तमान युग तक हमारे विभिन्न काव्य ग्रंथों और आलनोचनापरक स्वरूपों में सांस्कृतिक समन्वय एवं अन्तर्विधावर्ती अनुशीलन की विराट चेष्टा पाई जाती है।

नवजागरण : राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना

आधुनिक काल में 1857 के स्वाधीनता आन्दोलन का निर्णायक महत्त्व है। जिसने विभिन्न धर्म, मजहब, क्षेत्र और वर्ग भेद के अन्तर को मिटाकर भारतीयों को स्वाधीनता प्राप्ति और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रेरणा दी। समाज सुधार आन्दोलनों ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी, स्त्री-शिक्षा के प्रचलन, स्वदेशी के प्रचार, काँग्रेस दल की स्थापना, गरमदल और नरम दल की वैचारिक टकराहट, महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय नेतृत्व, नेहरू-सुभाष चन्द्र के अन्तर्विरोध और प्रगतिशील लेखक के उभार तथा मार्क्सवादी चेतना के विकास ने राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक परिदृश्य की आधारशिला निर्मित की है।

राष्ट्रीय स्तर पर कहीं पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, अरविन्द घोष, बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा राजनीति के अनेकानेक 'उग्रवादियों' के क्रियाकलापों और रचनाओं में सर्वाधिक मुख्य था। जो भारतीय दर्शन और संस्कृति के चिर-प्रतिष्ठित मूल्यों का पक्ष ग्रहण कर विदेशी सांस्कृतिक प्रभावों की निन्दा करते थे। **अरविन्द घोष** ने लिखा है कि भारत में **उन्नीसवीं शताब्दी** दूसरों के अनुकरण, आत्म-विस्मरण और कृत्रिमता की शताब्दी थी। उसका लक्ष्य भारत में सफलता से एक योरोप खड़ा कर देना था। भारत के लोग **गीता** की इस गम्भीर उक्ति को भूल गए थे कि "अपने धर्म का असफल अनुसरण भी दूसरे के धर्म के सफलतापूर्वक अनुसरण से श्रेष्ठ है : दूसरे के धर्म का अनुसरण करना खतरनाक है जबकि अपने धर्म का अनुसरण करते हुए मर जाना बेहतर है। कारण यह है कि स्वयं अपने धर्म का अनुसरण करते हुए मृत्यु, यश का नया जीवन प्रदान करती है, जबकि दूसरे के मार्ग पर चलने का अर्थ केवल सफलतापूर्वक आत्महत्या कर लेना है।"[42]

अधिकांश सृजक चिन्तक और समाजशास्त्र **भारतीय राष्ट्रवाद** को हिन्दू राष्ट्रवाद बनाना चाहते थे। **योरोपीयन राष्ट्रवाद** और **भारतीय राष्ट्रवाद** के अन्तर के बारे में बी.सी. पाल ने लिखा है कि योरोपीय राष्ट्रवाद जहाँ क्षेत्रीय एकता पर जोर देता है वहाँ भारतीय राष्ट्रवाद **सांस्कृतिक** एकता पर।[43] राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिदृश्य में बंगाली लेखकों ने अग्रिम **हरावल** का कार्य किया है। **काली** और **दुर्गा** अन्य हिन्दू देवियाँ राष्ट्रीय विकास की विभिन्न मंजिलें मानी जाने लगीं। दुर्गा देवी की आराधना और मातृभूमि का स्वतन्त्रता का अटूट सम्बन्ध बंगाल में प्रतिपादित हुआ तो महाराष्ट्र में गणपति पूजा का उत्सव व आयोजन। 1893 के हिन्दू-मुस्लिम दंगों के बाद ज्ञान और विवेक, जातीय विकास एवं धार्मिक आस्था के उन्नयन हेतु किया गया। जिसका प्रभाव समीपवर्ती प्रदेशों निजाम स्टेट (आन्ध्र) कर्नाटक एवं पुर्तगीज शासन के गोवा पर भी पड़ा है।

19वीं सदी के नवजागरण दौर में भारतीय मिथकों एव प्रतीकों का सकारात्मक प्रयोग हुआ है। भारतीय जनमानस में दुर्गा का अपना विशिष्ट महत्त्व है। भारतीय मिथक चेतना और सांस्कृतिक अनुष्ठानों में दुर्गा हमारे लिए एक पौराणिक देवी मात्र नहीं है। वह आद्यशक्ति, त्रिपुरसुन्दरी महामाया, तारा एवं काली भी रही है। तांत्रिक और वज्रयानी साधना में गुजरात का गरबा-पर्व हो या राजस्थान की गणगौर पूजा, मैसूर की चामुण्डी देवी हो या मदुराई की मीनाक्षी, मध्यप्रदेश की पतवारी माता, असम प्रदेश की कामाख्या हो या कन्याकुमारी अन्तरीप की कुमारिका देवी। वह भारतीय जनसमुदाय की शाश्वत आत्मा है। उसकी सर्वशक्तिमना के दोनों पक्ष अर्थात् शाश्वत प्रेम और अनिवार्य दण्ड, जिसके माध्यम से इस प्रेम की पूर्ति होती है—इस जगत में शक्ति के प्रतीक हैं। (दि न्यू स्पिरिट, के. दामोदरन, पृ. 429) दुर्गा की अवतारणा आन्ध्रप्रदेश में, **मा तेलुगू तल्ली** (मातृ-शक्ति) रूप में है तो बंगाल में बंकिमचन्द्र के देशभक्तिपूर्ण गान **वन्देमातरम** में जो कांग्रेस का राष्ट्रगीत बन गया था। भारत माता को दुर्गा माता का प्रतिरूप माना गया है।

हमारे मन्दिरों में विराजमान प्रत्येक पवित्र प्रतिमा गीत में कहा गया है—पृथ्वी माता है, वह माता जो सुजलां है, सुफलां है, शस्य श्यामला है, फुल्ल कुसुमित द्रुमतल शोभनीम है, वरदाम है, इत्यादि। गीत में आगे माँ की वन्दना इस प्रकार की गई है—

त्वं हि दुर्गा दश प्रहरण-धारिणी
कमला-कमल-दल विहारिणी
वाणी विद्या दायिनी, नमामि त्वां।

यह सारा उपक्रम नवजागरण काल में राष्ट्रीय चेतना के उद्‌बोधन का रहा है। मातृ शक्तियाँ हमारे अवचेतन में सांस्कृतिक धुरियों की तरह विद्यमान हैं। सरस्वती अगर हमारे ज्ञान की देवी है तो लक्ष्मी गृहस्थों, वणिक-व्यापारियों की आराध्य देवी है। सम्पूर्ण भारतवर्ष के मन्दिरों में मातृशक्ति, नारी-शक्ति के विभिन्न रूपक प्रतीक एवं मिथक सक्रिय हैं। जो विगत कई युगों से स्थापत्य संगीत और चित्रकला के कारक तत्त्व रहे हैं।

सांस्कृतिक अनुष्ठानों में हिन्दू नवरात्र-समारोह में दुर्गा-शक्ति के नवरूपों को पूजते हैं, अविवाहित-विवाहित स्त्रियाँ गौरी पूजन, दुर्गा-पूजन की परम्परा का निर्वाह करती हैं तो मुस्लिम महिलाएँ अपनी मंगलकामना के लिए फातिमा, जुबैदा, जुलैखा को याद कर लेती हैं। क्रिश्चियन समाज तो मरियम के मातृ स्वरूप का अनुयायी है ही... पर शैव-शाक्त और सिक्ख समाज भी दुर्गा-तारा-शक्ति का कम आराधक नहीं है। राधाकमल मुकर्जी ने **भारत की संस्कृति और कला** नामक कृति में उमा शक्ति के सांस्कृतिक रूपक की विशद विवेचना रची है कि भारतीय संस्कृति में उमा अथवा शक्ति, जिनके हाथ में सदैव कमल रहता है, अर्थ

और काम अर्थात् सम्पत्ति सौन्दर्य और जीवन सौन्दर्य की देवी है। अपनी अंगुलियों में साँप लपेटे अघोर भैरव धर्म और मोक्ष के प्रतीक हैं और आत्मलीन तत्पुरुष के लिए सृजन और संहार क्रिया और प्रशान्ति का सतत गतिशील चक्र केवल क्षणिक माया है, जो जन्मती, बढ़ती और अन्य मायावी आकारों की भाँति तत्पुरुष में ही विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूपों में, प्रशान्त योगी की भाँति सदा शिव तो मध्य में ही है, किन्तु दाहिनी ओर खप्पर से रक्तपान करते हुए महाकाल तथा बायीं और एक दर्पण में प्रतिबिम्बित ब्रह्माण्ड के रूप में अपने सौन्दर्य का अवलोकन करती महामाया।

संस्कृति के भारतीय दर्शन में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतुवर्ग) का सम्मिलन और ऐक्य है, जो आत्मा और माया की यथार्थ प्रकृति पर आधारित है। इसका प्रतीक है शिव की त्रिमूर्ति में एक विशाल मुकुह का निर्भीक और मौलिक प्रयोग, जिसके बल पर शिव के तीनों शिरों में अन्यतम सन्तुलन और ऐक्य उत्पन्न हो जाता है।"

शिव केवल द्रविड़ों या शाक्तों के देवता नहीं हैं बल्कि वे आम भारतीय जनमानस के आराध्य हैं, मृत्यु, संहार, ताण्डव के मिथक के साथ-साथ नृत्यशास्त्र के आदिदेवता। कहना न होगा कि नवजागरण काल के दौरान भारतीय रचनाकार (भारतेन्दु युग, महावीर प्रसाद द्विवेदी युग, हिन्दी) फकीर मोहन सेनापति (उड़िया), वीरेश लिंगम पंतुलु, गुरूजाडा आपाराव (तेलुगू) आदि अपने काल, इतिहास स्पेस में एक ओर समाज सुधार प्रवृत्ति से जुड़े थे। अपनी अंतश्चेतना से उपनिवेशवादी दासता से मुक्ति का संकल्प सिरज रहे थे। तो दूसरी ओर वे अनुवाद, विमर्श और दार्शनिक स्तर पर विश्व साहित्य से प्रभावित हो रहे थे। इनकाउण्टर की स्थिति तो बीसवीं शताब्दी के मध्य में ही सम्भव हो पाई है।

नवजागरण के दौरान समाजसुधार आन्दोलनों और भारतीय साहित्य के विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों के समवेत प्रयत्नों का लेखा-जोखा होना अभी बाकी है। नवजागरण काल में साम्राज्यवादी देशों की गुलामी के बरक्स भारतीय अस्मिता को निर्मित करने का प्रश्न भी कम ज्वलन्त नहीं था। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि के समवेत प्रयत्नों से देश के विविध प्रान्तों में समाज सुधार की लहर दौड़ पड़ी। आर्य समाज ने देश के कई हिस्सों में दयानन्द एंग्लोइण्डियन कॉलेज की स्थापना की। जिसमें भारतीय धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, अंग्रेजी साहित्य, गणित, रसायन, भौतिकी आदि की शिक्षा दी जाती थी।

नवजागरण के दौरान ही भारतीय रचनाकारों ने भारतीय अस्मिता, भारतीय जनजागृति, राष्ट्रीय भावना व चेतना के उत्थान जैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार किया। वे जात-पाँत, ऊँच-नीच के विभेद मिटाकर, एकजुटता अपनाकर विदेशी शासन से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने लगे। भारतेन्दुयुगीन साहित्य में जिस प्रकार

राजभक्ति और देशभक्ति का द्वंद्व मिलता है उसी प्रकार तेलुगू साहित्य के गुरूजाड़ा अप्पाराव, रायप्रोल सुब्बाराव आदि के साहित्य में देशभक्ति व राजभक्ति का वैचारिक द्वंद्व मिलता है। तेलुगू, कन्नड़, तमिल और मलयालम भाषा में भी नवजागरण के विमर्श कम दाहक या प्रांजल नहीं हैं।

भारतेन्दु वैष्णव थे लेकिन उन्होंने आदरपूर्वक कुरान शरीफ का अनुवाद प्रकाशित कराया। उन्होंने भारत के महापुरुषों के अतिरिक्त जार्ज मेओ, नेपोलियन, हजरत मोहम्मद आदि पर लेख लिखे। शेक्सपियर के **मर्चेन्ट ऑफ वेनिस** का रूपांतरण 'दुर्बल बंधु' के नाम से किया। विचारधारा, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में सरस्वती पत्रिका के माध्यम से महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अग्रगण्य भूमिका अदा की। भारतेन्दु मण्डल के प्रेमघन ने नवजागरण के दौरान लिखा है–

हिन्दू-मुस्लिम जैन पारसी ईसाई सब जात
सुखी होय हीय अरे प्रेमघन सकल भारती भात

नवजागरण आन्दोलन के दौरान भारतीय साहित्य की मुख्य अवधारणा सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक सुधार (थीसीस) है तो ब्रिटिश उपनिवेशवादी शोषण (प्रतिपक्ष एण्टीथीसीस) है। वास्तव में सिन्थेसिस विभिन्न भारतीय भाषाओं का वह सृजनात्मक पक्ष है जो मुक्तिकामी चेतना के साथ मानवीय मूल्यों के पक्षधर 'विजन' का दावेदार है। कहना न होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दौर में समाज सुधार आन्दोलन से वैचारिक प्रकिया तेज हुई।

शिवनारायण सिंह 'अनिवेद' के विचारानुसार "राजा राममोहन राय समाज सुधार आन्दोलन के तहत उपनिषदों जैसे देशी साहित्यिक विरासत का हवाला देते हुए विवेकसम्मत विचारों का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। उन्होंने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। सती और सुधार के कार्य किए। दयानंद सरस्वती ने वेदों पर आधारित **विश्वदृष्टि** के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानन्द ने भक्ति का उपदेश देकर जनता में सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुज्जीवन के लिए जातीय चेतना जाग्रत की। सैय्यद अहमदखान ने मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए अलीगढ़ में एंग्लो-अरेबिक महाविद्यालय की स्थापना की। उल्लेखनीय है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में हुए बंगाल नवजागरण के प्रणेता राजा राममोहन राय, माइकल मधुसूदन दत्त, विवेकानन्द, बंकिम, टैगोर ये सभी पश्चिमी विचारों से प्रभावित अवश्य थे, लेकिन उन्होंने भारतीय सभ्यता-परम्परा के अनुसार उनका भारतीयकरण किया।[45]

नवजागरण के दौर में भारतीय चिन्तन-परम्परा कई आयामों में एक साथ गति अपनाने के लिए आमादा हुई। 19वीं शताब्दी में ही समय की माँग के अनुसार (यूरोपीय नवजागरण की विशेषताओं तीव्र बुद्धिवादिता, व्यक्ति स्वाधीनता

और मानवतावाद के बरक्स) राष्ट्रवाद सुधारवाद तथा पुरुत्थानवाद का प्रसार हुआ। बकौल इन्द्रनाथ चौधुरी के एक ही विषय समाज सुधार को लेकर भारत की विभिन्न भाषाओं में पहला उपन्यास लिखा गया। तमिल में सैमुएल वेदनायकम पिल्लई, तेलुगू में कृष्णमा चेट्टी, मलयालम में चंदु मेनन, हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास, बांग्ला में मेरी हेचिन्सन और उड़िया भाषा में फकीर मोहन सेनापति के उपन्यास की विषयवस्तु में समाज सुधार की ही प्रमुखता है।[46] वस्तुतः इन्हीं सब कारणों से यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि कोई भी भारतीय भाषा-साहित्य अन्य दूसरे भारतीय भाषा-साहित्य से वैचारिक और सामाजिक अन्तश्चेतना से जुड़ा है। लेखक की कमोबेश रूप से अपने देश-काल और युग-बोध से जुड़कर ही अपने भाषा-साहित्य में सृजन में प्रवृत्त हो सकता है। कृति समाजसापेक्ष रहकर ही श्रेयस्कर मानी जा सकती है।

नवजागरण की सामाजिक-राजनैतिक और सांस्कृतिक चेतना ब्रिटिश उपनिवेशवाद और सामन्तवादी गठजोड़ की प्रतिक्रिया का परिणाम रही है। किसान आन्दोलन और प्राकृतिक विपदाओं में ब्रिटिश सरकार और देशी रजवाड़ों की शोषण की नीतियों ने आम जनता को व्यथित कर रखा था। जिसकी एक बानगी फकीर मोहन सेनापति के उड़ियाभाषी उपन्यास **छह बीघा जमीन** में देखी जा सकती है।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि संस्थाओं के सद्प्रयत्नों से समाजसुधार और जनजागृति की प्रक्रिया पूर्ण हो सकी है। भारतीय भाषाओं की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उसी दौर में दहेज प्रथा, सती प्रथा, बेमेल विवाह के प्रतिरोध रचे गए। स्त्री शिक्षा को महत्त्व दिया गया, वर्ण और वर्ग के भेदभाव को सामाजिक अभिशाप माना गया। शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना के विकास से सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की यह दीर्घ प्रक्रियाँ सम्भव हो सकी। जिसका साहित्यिक प्रतिकलन प्रेमचन्दकृत निर्मला, सेवा सदन, प्रेमाश्रम उपन्यासों में, तेलुगू के गुरूजाडा अप्पाराव के कन्याशुल्कम (दहेज विरोधी चेतना) और **सहस्त्रफण** उपन्यास में देखा जा सकता है। जो बेमेल विवाह, दहेज प्रथा और सामाजिक जीवन में स्त्री की नारकीय जीवनशैली को दर्शाने वाला उपक्रम है।

भारतीय साहित्य का आधुनिक परिदृश्य

भारतीय साहित्य का तात्पर्य कतिपय लोग विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचे गए विधागत साहित्य का कुल योग मानते हैं। जबकि भारतीयता एक मनोदशा है, ...भारतीयता का प्रश्न भावना और आस्था का है, अपनी संस्कृति और विचार-दर्शन शैली की जड़ों को टटोलना और आत्मसातीकरण करना है। बकौल श्यामाचरण दुबे भारतीयता के तत्त्वों के विश्लेषण हेतु एक गम्भीर अन्वेषण दृष्टि और सही समझ

की अपेक्षा है। जिसे निम्न शर्तों और आधारों पर देखना श्रेयस्कर है–

1. इतिहास दृष्टि
2. परम्परा बोध, जिसमें उसका मूल्यांकन शामिल है।
3. समग्र जीवन दृष्टि, जो भूत, वर्तमान और भविष्य को जोड़कर देख सके।
4. वैज्ञानिक विवेक जिससे वैकल्पिक भविष्य और जीवन के बदलते आयामों के प्रश्न जुड़े हैं।[47]

भारतीय साहित्य का आधुनिक परिदृश्य अपनी अतीत की जड़ों, समसामयिक समस्याओं और आगामी भविष्य की धड़कनों से असम्पृक्त नहीं है। इसी कारण जहाँ जयशंकर प्रसाद, निराला (हिन्दी), विष्णु खांडेकर, शिवाजी सावंत (मराठी), भैरप्पा, यू.आर. अनन्तमूर्ति (कन्नड़), गुरूजाडा अप्पाराव, शेषेन्द्र शर्मा (तेलुगू) आदि अतीत की इतिहास परम्परा पर बिम्ब, प्रतीक और मिथकों की सहायता से सृजनात्मक लेखन करते हैं, वहाँ आलोचकगण डी.डी.कौशांबी, राधाकमल मुकर्जी, रामविलास शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, के. दामोदरन और एजाज अहमद आदि की रचनाओं पर इतिहास, मिथक और उपनिवेशवाद और वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति व साहित्य पर विचार करते हैं।

किसी भी ऐतिहासिक दौर की संस्कृति और साहित्य सृजना को dilectics द्वंद्वात्मकता में ही देखना श्रेयस्कर होगा। कारण "संस्कृति राष्ट्रीय अथवा भावना के सद्भावनापूर्ण प्रमरीकरण का क्षेत्र नहीं है। न ही संस्कृति महज सौन्दर्यबोध का प्रदेश है। उल्टे वर्गों और वर्चस्व के लिए संघर्षरत सामाजिक शक्तियों के बीच टकराव सिर्फ अनेकता में एकता का सौम्य रूप नहीं जैसाकि हमारे राष्ट्रवादी मानकर चलते हैं, बल्कि वे 'विपरीतों की एकता' का रूप भी ग्रहण करते हैं।"[48]

बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य में विभिन्न भाषा-भाषी रचनाकारों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना का प्रस्फुटन देखा जा सकता है, एक ओर राष्ट्रीय भावनाओं का विकास और आध्यात्मिक-दार्शनिक (भाववादी) विचारों का विकास है तो दूसरी ओर विश्व साहित्य के आलोक में भारतीय अस्मिता और उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतिरोध भी है। जो अनेकता में एकता का विचार तत्त्व न होकर विभिन्न विचारधाराओं के सहअस्तित्व विपरीतों की एकता का प्रमाण है। कहीं-कहीं एक ही व्यक्ति आदर्श और यथार्थ (प्रसाद), काम और अध्यात्म (दिनकर), प्रतिरोध और शक्ति सन्तुलन (निराला), यथार्थ और राष्ट्रीय चेतना का उन्नयन (बंकिमचन्द्र) सामाजिक सुधार और उपनिवेश का प्रतिरोध (गुरूजाडा अप्पाराव) का सांस्कृतिक उपक्रम रचता रहा है।

गाँधीवादी दर्शन से अनुप्रेरित रामनरेश त्रिपाठी ने भारतीय संस्कृति के विकास हेतु राष्ट्रप्रेम, बलिदान और आत्मविमर्श को पथिक काव्य में आवश्यक तत्त्व माना है तो यही मैथिलीशरण गुप्त के काव्य भारत-भारती में उपलब्ध है।

जयशंकर प्रसाद आधुनिक दौर में भी अतीत के पात्र व ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन माध्यम से **स्कन्दगुप्त** और **चन्द्रगुप्त** नाटक के द्वारा भारतवासियों को ब्रिटिश उपनिवेश का प्रतिरोध करने की समझ प्रदान करते हैं पर अपनी पुनरुत्थान प्रवृत्ति और राष्ट्रीय उन्मेष के कारण **कामायनी** में नारी एवं पुरुष का धर्म और विज्ञान का शास्त्र एवं लोक का हृदय और बुद्धि का सन्तुलन अंकित करते हैं। शैव दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा प्रवृत्ति से अनुप्रेरित प्रसाद ने मानवीय विकास और सामाजिक व्यवहार, बुद्धि और भाव, आस्था और विवेक के समन्वय को केन्द्र में रखकर कामायनी जैसा एक महाकाव्य रचा है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के महत्त्वाकांक्षी समन्वयक भाव को पाठकों तक सम्प्रेषित किया है, जिसे हम तेलुगू के महाकवि विश्वनाथ सत्यनारायण की कृति **रामायण कल्पवृक्षम** में परिलक्षित कर सकते हैं।

यह भारतीय अंतश्चेतना का समानान्तर परिपार्श्व है, जिसे आधुनिक युग में आदर्श और यथार्थ के समन्वय भाव में देखा जा सकता है। कहना न होगा कि रवीन्द्रनाथ टैगोर की देशभक्ति और चेतना संकीर्ण राष्ट्रवाद की सीमाओं से ग्रस्त नहीं थी। शान्ति, स्वतन्त्रता और विश्व बंधुत्व के आदर्श उनकी रचनाओं में व्याप्त हैं। उन्होंने कहा है कि प्रत्येक राष्ट्र अलग-अलग मार्ग से चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँचा है, जिससे अपनी सभ्यता को विशिष्टता प्राप्त है। इसमें सन्देह नहीं है कि **मनुष्य** की **नस्लों** में प्राकृतिक अन्तर है, जिनका सम्मान और संरक्षण किया जाना चाहिए। टैगोर ने नवहिन्दू पुनरुत्थानवादियों से भिन्न अपने मस्तिष्क को सभी ओर से आनेवाले **सांस्कृतिक मूल्यों** के लिए खोल रखा था। जवाहरलाल नेहरू ने भी स्वीकारा है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय राष्ट्रीयता के आधार को व्यापक बनाया है। पूर्व और पश्चिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करके अन्तराष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाया है। भारत के सन्देश को दूसरे देशों में पहुँचाया है और उन देशों के सन्देश को वे हमारी जनता तक लाए हैं।[9]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने केवल अतीत के गौरव गीत गाने और वर्तमान पर आँसू बहाने तक अपने को सीमित नहीं रखा है। उनकी दृष्टि **भविष्य** के **क्षितिज** को भेदकर **'गीतांजलि'** में स्वतन्त्र भारत का स्वप्न सिरज रही थी। भाव है "चित जेथा भयशून्य उच्च जेशा मुक्ता...भारतेरे से ही सर्गे करो जागरित...। जहाँ तुम निश्चय ही कर्म और चिन्तन के विकास मार्ग पर बढ़े आते हो, हे पिता, हे ईश्वर...उस स्वर्ग में भारत को जागृत करो।"

वस्तुतः भारतीय साहित्य के **सांस्कृतिक वैशिष्ट्य** के मूल्यांकन में **'समग्रता' 'ऐतिहासिक संक्रमण'** और भारतीय **अस्मिता** और **'विश्वदृष्टि'** सम्बन्धी आधारभूत तथ्यों पर ध्यान कम दिया गया है। विभिन्न विद्वानों ने अपनी सीमाओं में पश्चिम के मुकाबले में **प्रादेशिक साहित्य** को ही महत्त्व दिया है। यह स्थिति बंगाल, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल और हिन्दी के क्षेत्रों में परिव्याप्त रही है। चाहे

वे राधाकमल मुकर्जी हों या राहुल सांकृत्यायन, रामविलास शर्मा हों या डी.डी. कौशाम्बी। इन्द्रनाथ चौधुरी ने आशुतोष मुखर्जी और बुद्धदेव बोस के साक्ष्य से कहा है कि "हम यूनानी साहित्य विचार के मुकाबले संस्कृत अथवा हिन्दी अथवा बंगला साहित्य की बात सोचते हैं। यूनानी विचार एक वास्तविकता है किन्तु उसके मुकाबले हमने भारतीय विचार को स्थापित नहीं किया। यूनानी विचार के बरक्स इस पूरे कालक्रम में विश्व दृष्टि एक आत्मदृष्टि अथवा अस्मिता बोध का भी अस्तित्व रहा है। फिर हमारे यहाँ काल और देश (स्थान) का एक भारतीय दृष्टिकोण भी है। अनन्त तो समय (काल) का प्रतीक है, तथापि ऐसा रूप है जो आगे बढ़ता है और इसकी एक चक्राकार गति है, तो दूसरी रैखिक गति, एक कालातीत है, तो दूसरी ऐहिक या लौकिक। स्थान भी 'देन' और 'क्षेत्र' दोनों है। भारत का इतिहास और संस्कृति सदैव सर्वभारतीयता (देश) और प्रादेशिक स्व-निश्चयात्मकता (क्षेत्र) के आदर्शों के बीच दोलायमान रही है।"[49]

रेणु और नागार्जुन का उपन्यास, साहित्य मिथिला बिहार के अंचल-क्षेत्रों के जटिल जनजीवन को रूपायित करता है तो मास्ति वेंकटेश अय्यर और गिरीश कर्नाड का लेखन कर्म कर्नाटक के विभिन्न अंचलों की त्रासद गाथाओं और वर्ण और वर्ग संघर्ष को उद्घाटित करता है। यही उपक्रम हम तक्षी शिवशंकर पिल्लै के चेम्मीन और कयर (रस्सी) नामक कृतियों में केरल-मलयालम क्षेत्रों की अन्तर्जटिलता के रूपायन में पाते हैं।

भारतीय साहित्य का एक छोर वर्तमान देशकाल की युगीन समस्याओं से जुड़ा है तो दूसरी ओर अतीत के पात्र परिवेश, प्रतीक और मिथक संरचना की पुनःप्रस्तुति से जुड़ा है। हम अभी भी—परम्परा और आधुनिकता के बीच दोलायमान हैं। सुधीजन जानते हैं कि आधुनिकता के प्रारम्भ में भारतीय भाषाओं के रचनाकारों ने अतीत के प्रतीक-प्रसंग और मिथकीय पात्रों के विवेचन माध्यम से भारतीय जनमानस को राष्ट्रीय चेतना का सन्देश दिया। कतिपय रचनाकार ब्रिटिश शासन के शोषण का प्रतिरोध और जमींदारी-सामन्ती व्यवस्था के जुल्म का प्रतिकार अपनी कहानियों और उपन्यासों में रच रहे थे। जिसकी एक लम्बी परम्परा जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव (बेकसी का मजार), देवकीनन्दन खत्री (चन्द्रकांता संतति, भूतनाथ), प्रेमचन्द (गोदान), गुरूजाडा अप्पाराव (कन्याशुल्कम), विश्वनाथ सत्यनारायण (सहस्रफण), चतुरसेन शास्त्री (गोली), विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर, पेण्डसे, फकीरसिंह सेनापति और तक्षी शिवशंकर पिल्लै आदि की रचनाओं में उपलब्ध है—स्वातंत्र्योत्तर दौर में भी उस परम्परा का निर्वाह यशपाल (झूठा-सच), भीष्म साहनी (तमस), कर्तार सिंह दुग्गल, शिवराम कारन्त, टी.वासुदेव नारायण, गिरिराज किशोर (लोग, पहला गिरमिटिया) तथा कमलेश्वर (कितने पाकिस्तान) आदि कर रहे हैं।

नाटकों के क्षेत्र में प्रतीकात्मक संकेतों और मिथकीय प्रसंगों का आश्रय जय शंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी और गिरीश कर्नाड ने सशक्त रूप से ग्रहण किया है। प्रसाद के स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ और ध्रुवस्वामिनी जैसी प्रतीकात्मक रचनाएँ देशोद्धार, उत्सर्ग और जातीय स्वाभिमान हेतु संघर्ष के लिए रची हैं। हरिशंकर प्रेमी ने सामाजिक सुधार और सौहार्द्र भावना के लिए 'खून की होली' और 'राखी का बन्धन' जैसी रचनाएँ रचीं। कन्नड़ भाषा में गिरीश कर्नाड तलेदण्ड, तुगलक, हयवदन जैसी रचनाएँ प्रतीकात्मक संकेतों के लिए रचते हैं तो स्वातंत्र्योत्तर दौर में सुरेन्द्र वर्मा मनोविश्लेषण की सरणि में **सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण** और **सातवाँ सर्ग** नाटक मानव चरित्र की विभिन्नता व विशेषता को दर्शाने के लिए लिखते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास (मृगनयनी, गढ़ कुण्डार आदि), कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यास (पाटन का प्रभुत्व, सत्यभामा, पाँच पाण्डव, परशुराम आदि), विश्वनाथ सत्यनारायण (सहस्त्रफण-वेयी पडुगल), शिवराम कारंत का ऐतिहासिक-सामाजिक उपन्यास (मूकज्जी), तक्षी शिवशंकर पिल्लै का मछुआरों के जीवन पर आधारित **चेम्मीन** उपन्यास तथा दामोदर मावजो कृत भारतीय महिलाओं की अरब देशों में नौकरीपेशा जिन्दगी की त्रासदी के **कार्मेलीन** उपन्यास को हम भारतीय मनीषा और सांस्कृतिक संक्रमण का कृति-संसार मान सकते हैं।

स्वातंत्र्यपूर्व भारतीय भाषाओं की रचनाओं में सामाजिक सुधार, नवजागरण की बेचैनी, ब्रिटिश शासन का प्रतिरोध और महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन का जिक्र महत्त्वपूर्ण आधार (Base) का कार्य करते हैं चाहे वह प्रेमचंद कृत **प्रेमाश्रम** और **रंगभूमि** का मामला हो या अंग्रेजी के यशस्वी रचनाकार आर.के. नारायण का **मालगुडी डेज** का कथानक हो और यही हश्र मास्ति वेंकटेश अय्यंगार के 'चिक्कवीर राजेन्द्रराव' के कथ्य एवं शिल्प में उपलब्ध है। दरअसल भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन हमारे नवजागरण की चेतना और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का आधेय (Super Structure) का प्रमाण रच सकता है। हिन्दी के विद्रोही कवि निराला और तेलुगू के प्रगतिशील कवि श्री.श्री की आस्थाओं व जिजीविषा में अन्तर नहीं है बल्कि वैचारिक समतुल्यता का ओजस्वी स्वर उपलब्ध होता है।

स्वातंत्र्योत्तर दौर में जिस भारतीय समाज और एकीकृत राष्ट्र की संकल्पना हमारे साहित्यकारों के पास रही है उनमें कतिपय रचनाएँ मिथकीय भावभूमि और प्रतीकात्मक परिप्रेक्ष्य में रची गई हैं और अधिकांश रचनाएँ प्रगतिशील आस्थाओं और वर्ग-चेतना के डिक्लास व्यक्तित्वांतरण भावबोध से रची गई हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से प्रतीकात्मक मिथकीय पात्रों का असर प्रभावशाली होता है। यह हमारे

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण का कार्य-कारण होगा कि **उर्वशी** जैसी काम-अध्यात्म वाली कृति दैहिक वासनाओं की तुष्टि के लिए रची गई या इसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के निर्माणकारी मूल्य सन्निहित हैं? धर्मवीर भारती कृत **अंधायुग** ऐतिहासिक स्थितियों में पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति की रचना है या मानवीय ऐषणाओं का सनातन प्रतिफलन? रूप है? **कनुप्रिया** रोमांटिक त्रासदी है या शाब्दिक-कलाबाजी? मराठी में विष्णु खांडेकर की कृति **ययाति** मानवीय वासनाओं के प्रतिकार एवं उन्नयन हेतु रची गई है या केवल पाठकीय अभिशंसा व लोकप्रियता हेतु? शिवाजी सावंत कृत **मृत्युंजय** कर्ण के चरित्र का नवाख्यान है या कर्ण के विषमतापूर्ण और शौर्यपरक जीवन पर रचा गया उपन्यास। भैरप्पा का **पर्व** उपन्यास सार्थक मनोभूमि का निर्माण अधिक करता है।

कहना न होगा कि सातवें-आठवें दशक की सभी भारतीय रचनाएँ व्यवस्था के प्रतिरोध में गवाही देती हैं, कतिपय काव्य एवं औपन्यासिक रचनाएँ आपातकाल को तानाशाही का प्रतिरूप मानती हैं। सभी भारतीय भाषाओं के रचनाकार व्यथित भाव में सत्तावर्ग को चुनौती देते हैं—उदाहरण हेतु हिन्दी के नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल और दुष्यन्त कुमार का लेखन संसार है, मराठी के नारायण सुर्वे और अरुण कोल्हटकर का प्रतिरोधी स्वर है, तेलुगू के शेषेन्द्र शर्मा, ज्वालामुखी और निखिलेश्वर का विद्रोही भाव है, पंजाबी के पाश, बांग्ला के सुकान्त भट्टाचार्य का अभिव्यक्ति कौशल उसी का समानान्तर युगबोध रेखांकित करता है। वर्तमान दौर में पिछले दो दशकों से दलित विमर्श और स्त्री विमर्श का वैचारिक परिप्रेक्ष्य साहित्यिक-सांस्कृतिक जमीन पर अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराता है।

वैश्वीकरण और भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक विशिष्टता

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक विशिष्टता को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया (डायलेक्टिकल प्रोसेस) में देखना श्रेयस्कर होगा। इसे राष्ट्रीय स्तर के मासूम विचारकों के समान 'एकता में विभिन्नता' और 'विभिन्नता में एकता', सह-अस्तित्व और सहिष्णुता, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पुरातन-जुगाली में विचारना बौद्धिक पिछड़ेपन का सबूत होगा क्योंकि 19वीं शताब्दी के नवजागरण ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रतिरोध यथार्थपरक विचारधारा के आधार पर किया है। विश्व स्तर पर प्रथम महायुद्ध (1914-18) और द्वितीय महायुद्ध (1938-42) ने साम्राज्यवादी-फासीवादी शक्तियों को बेनकाब कर दिया है और इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज पर हम भारतीय लोग वैश्वीकरण और बाजारवाद की शतरंज पर बिछे हुए मोहरे मात्र हैं।

अतः वैश्वीकरण के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमें अगर भारतीय साहित्य और संस्कृति का वैशिष्ट्य तलाशना है तो यह कार्य ज्ञान-विज्ञान की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया और देश-काल सापेक्ष्य **'विपरीतों की एकता'** वाली विशेष ऐतिहासिक काल की

विवेचना होगी। प्रश्न यह भी मुखर है भारतीय साहित्य सृजन में किस भाषा विशेष की किन परम्पराओं एवं रचनाओं को; सांस्कृतिक विश्लेषण का आधार बनाया जाए? रामविलास शर्मा के अभिमत से, "हमें किसी भी भाषा-विशेष के साहित्य को अन्य भाषाओं के **सहवर्ती-उपक्रमों** में देखना चाहिए। केवल वैदिक-पौराणिक साहित्य व संस्कृति पर आधारित अध्ययन एकांगी होगा।" हमें उसके भाववादी और भौतिकवादी पक्ष का विश्लेषण करना होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों के बरक्स उपनिषद को; संस्कृत के बरक्स पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य को; वैदिक साहित्य के बरक्स धम्मपद, त्रिपिटक और जातक कथाओं को; वाल्मीकि कृत **रामायण** और व्यास कृत **महाभारत** को होमर के ओडिसी और इलियड ग्रन्थ के बरक्स रखकर सोचना होगा। मनुस्मृति के बरक्स बज्रसूची को और तुलसीदास के साथ कबीरदास को रखेंगे तभी उस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का बोध होगा जिससे गुजरकर भारतीय संस्कृति का निर्माण और विकास हुआ है।"[50]

मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र के अनुरूप जहाँ हम किसी भी देशकाल के ऐतिहासिक कालखण्ड सम्बन्धी साहित्य-सन्दर्भ को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में देखते हैं, वहीं उस दौर के साहित्य सृजन के अन्तर्विरोधी पक्ष की जाँच-पड़ताल भी करते हैं। **'विपरीतों की एकता'** का नियम जहाँ विरोधी विचारधाराओं के अस्तित्व की भाववादी और भौतिकवादी प्रवृत्तियों को रेखांकित करता है, वहीं **शास्त्र** और **लोक** की टकराहट को भी अभिज्ञापित करता है।

वैश्वीकरण की वर्तमान दशा विगत शताब्दी के साम्राज्यवादी-पूँजीवादी गर्भ-संरचना का अनिवार्य परिणाम है। सुधीजन जानते हैं कि विश्व स्तर पर पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के अंत में एक उपनिवेशवाद की प्रक्रिया मुख्यतया ब्रिटेन, फ्रांस और पुर्तगाल द्वारा अमेरिकी महाद्वीपों में केन्द्रित रही और 19वीं शताब्दी में ही एशिया और अफ्रीका का बड़ी तीव्रता से औपनिवेशीकरण हुआ। विश्वस्तर पर अधिकांश देश दो हिस्सों में बँट गए जिसमें एक ओर पश्चिम के विकसित औद्योगिक देश थे और दूसरी ओर गैर-औद्योगिक उपनिवेशों और आश्रित राज्यों के विशाल पिछड़े इलाके थे, जिनमें से कई पहले स्वतन्त्र देश हुआ करते थे। दूसरे शब्दों में उपनिवेशवाद ने विश्व अर्थव्यवस्था का एक विशेष तन्त्र विकसित किया था। पर वास्तव में यह अन्तर्सम्बद्ध अर्थव्यवस्था का तन्त्र था जिसमें भिन्न-भिन्न औपनिवेशिक शक्तियाँ (ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल और अमेरिका) भिन्न-भिन्न अंचलों पर अपना नियंत्रण रखती थीं। इस प्रकार के औपनिवेशिक साम्राज्यों के विघटन (एवं प्रतिरोध) के कारण वैश्वीकरण की सांस्कृतिक और आर्थिक प्रक्रिया जोर पकड़ नहीं पाई थी।

जागरूक पाठक जानते हैं कि बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक औपनिवेशिक शक्तियों के विध्वंस और शीतयुद्ध के खात्मे के दशक रहे हैं।...

इस नए ऐतिहासिक चरण में एक सम्पूर्ण वैश्विक अर्थव्यवस्था के रूप में– "पूँजीवाद के और अधिक विकास के लिए उपनिवेशों का टूटना जरूरी था और अमेरिका एक वर्चस्ववादी ताकत के रूप में तब तक उभर नहीं सकता था जब तक उसके प्रतिद्वन्द्वियों के साम्राज्य और साम्राज्यवादी (Imperialistic) मंसूबे नष्ट नहीं हो गए होते। वर्तमान दौर में दुनिया की प्रमुखतम वित्तीय सैन्य और प्रौद्योगिकीय ताकत के रूप में अमेरिका को इस समूची नई व्यवस्था को आकार देने की जैसी सहूलियत प्राप्त है वैसी किसी औपनिवेशिक-साम्राज्यवादी ताकत को कभी नहीं रही है।"[51]

कहना न होगा कि विश्व स्तर पर बाजारवाद और अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण के लिए साम्राज्यवादी देशों को प्रौद्योगिकीय अनुसंधान के लिए कार्य करने पड़े। द्वितीय क्रान्ति की प्रौद्योगिकी औपनिवेशिक विजयों के लिए जरूरी रही है।

सोवियत रूस और चीन की आर्थिक नीतियाँ तथा भारतवर्ष की विशाल जनसंख्या, साम्राज्यवादी, औपनिवेशिक लालसा वाले देशों के लिए आर्थिक वैश्वीकरण के लिए बाधक तत्व रहे हैं। पूँजीवादी व्यवस्था को चुनौती देने का Utopia इन्हीं देशों ने रचा है।... पर "सोवियत खेमे के विघटन और विश्व बाजार में चीन के विलयन के बाद ही पूँजीवाद (विशाल स्तर पर) एक वास्तविक भूमण्डलीय वैश्वीकरण व्यवस्था बन सका है... और यह काम बीसवीं शताब्दी की आखिरी चौथाई में पूरा हुआ।" (एजाज अहमद, आलोचना, जुलाई-सितम्बर 2001, पृ. 12)

भारतीय साहित्य के विशाल परिप्रेक्ष्य में विभिन्न भाषा-भाषी रचनाकारों ने रोमांटिसिज्म, यथार्थवाद, परम्परा और आधुनिकता एवं विभिन्न विचारधारा के आलोक में...अपने-अपने सृजनात्मक हाशिए रचे हैं। नवजागरण और समाज सुधार आन्दोलन की एक लम्बी प्रक्रिया में सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक और सांस्कृतिक चेतना के उन्नयन का कार्य किया गया है। पर हमारा मध्ययुगीन साहित्य पुनर्जागरण की भी भूमिका अदा करता है, जो जाति, वर्ण, वर्ग और अहम से ऊपर मनुष्यता को तरजीह देता है। जिसका अपना सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व अक्षुण्ण है।

विश्व के उन्नत देशों के बरक्स भारतवर्ष में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान रचा गया भारतीय साहित्य नवजागरण और आधुनिकताबोध के सोपानों को पार कर लेने का उपक्रम रचता है। कहना न होगा कि भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में, साहित्य, दर्शन और संस्कृति में नवजागरण प्रक्रिया का विदेशी उपनिवेशवाद के प्रतिरोध का अप्रतिम योगदान रहा है।

भारतीय जनचेतना के उन्नयन में भारतीय दर्शन, इतिहास और साहित्य के पुनर्न्वेषण ने युगान्तरकारी भूमिका अदा की है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के प्रतिरोध हेतु उड़िया के फकीर मोहन सेनापति, बंगाल के बंकिम चट्टोपाध्याय

एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर, हिन्दी के भारतेन्दु मण्डल और प्रसाद-प्रेमचन्द आदि रचनाकारों ने, तेलुगू के रायप्रोल सुब्बाराव गुरूजाडा अप्पाराव तथा मलयालम के इन्दु मेनन और तक्षी शिवशंकर पिल्लै ने आजीवन लोकचेतना और लोक संघर्ष का प्रतिनिधित्व रचा है। **वंदेमातरम** की संकल्पना स्वदेश प्रेम, स्वाभिमान और आत्मगौरव का पर्याय बनी है। **गीता** का पाथेय लेकर पश्चिमी राजनीति शास्त्र और इतिहास की मूल अवधारणाओं को लेकर लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे और जवाहरलाल नेहरू ने **स्वाधीनता संघर्ष** का जो उद्घोष रचा, उसमें लाल, बाल और पाल की त्रयी ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय मनीषा हरावल दस्ते का रूप धारण करने लगी। नवजागरण और स्वाधीनता संघर्ष में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, सुब्रह्मण्यम भारती आदि चिन्तक महर्षि दधिची के अस्थिदान की तरह नींव की ईंट बने हैं।

भारतवर्ष में उन्नीसवीं शताब्दी साहित्य सृजन, दर्शन-विश्लेषण और इतिहास विवेचन में पुनर्विचार का अवसर देती है। विश्व साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ होती है। गद्य-विधा के नए रूपों की तलाश रतनलाल सरशार 'डान-क्विकजोट' के अनुवाद-फार्म **आजाद कथा** में रचते हैं, तो मिर्जा रूसवा लखनऊ के सांस्कृतिक विघटन को **उमराव जान अदा** में पेश करते हैं। गालिब एशियाई नवजागरण के प्रथम पुरोधा प्रमाणित होते हैं। भारतीय साहित्य के विशाल परिप्रेक्ष्य में बीसवीं शताब्दी में रामचन्द्र शुक्ल **रिडल ऑफ यूनिवर्स** के अनुवाद कर्म से नवोन्मेष पाते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परिधियाँ स्पष्ट होती हैं। विश्व साहित्य के परिपार्श्व में आज भी **विधा** और **रूप** माध्यमों के प्रतियोगी प्रश्न मुखर हैं। अनुवाद, तुलनात्मक अध्ययन और साहित्यिक विमर्श से हम लोग संचार माध्यम और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य के संश्लेषण का कार्य कर रहे हैं।

वर्तमान दौर में भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक चेतना की टकराहट विश्व की उन्नत भाषाओं और साम्राज्यवादी शक्तियों से है। वैश्वीकरण के इस दौर में विभिन्न देश और राष्ट्र, तृतीय विश्व के अल्प विकसित और आर्थिक प्रभुत्व वाले प्रौद्योगिकी उन्नत राष्ट्र एक-दूसरे के **प्रतिरोधी** रूप में खड़े हैं। आर्थिक-सांस्कृतिक मोर्चे पर, साहित्य व दर्शन परम्परा के स्तर पर **शीतयुद्ध** cold war अभी भी जारी है, एक-दूसरे में **संक्रमण** और **वर्चस्व** के शस्त्र तीक्ष्णता धारण कर रहे हैं। अतः भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक विशिष्टता को नए सिरे से विश्लेषित करने की आवश्यकता है।

वास्तव में भारतीय साहित्य की संकल्पना, सृजना और शिल्पान्वेषी मनीषा अपने आधार-आधेय रूप में सांस्कृतिक विशिष्टता से अनुषंग रूप से जुड़ी है। कारण पाश्चात्य योरोपीय देशों में **राष्ट्रीयता** की संकल्पना जहाँ क्षेत्रीय (स्थल)

भौगोलिक इकाइयों और परिधियों में व्याप्त सीमाओं से जुड़ी है, वहाँ हमारे यहाँ की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक मनोभावों, समुदाय और जातीय (प्रादेशिक काल, समय और स्पेस) भाव से जुड़ी है। भारतवर्ष जैसे बहुजातीय, बहुधर्मी और बहुभाषी देश की सांस्कृतिक विशिष्टता कालिदास के 'मेघदूत', जायसी के 'पद्मावत', कुली कुतुबशाह के 'कुल्लीयात', रामदास के 'मनाचे श्लोक', गुरु ग्रन्थ साहब के उपदेश के समन्वित भाव से ही अनुस्यूत नहीं है बल्कि यह तुलसी और कबीर नामदेव और सर्वज्ञम, निराला और श्री श्री, शमशेर और शेषेन्द्र शर्मा की डायलेक्टिक्स और सहवर्ती विकास भावना में भी है।

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक विशिष्टता में जितना महत्त्व अरूधन्ती राय के गॉड ऑफ स्माल थिंग्स नॉवल का है, जो केरल के सांस्कृतिक जीवन को रूपायित करत है उतना ही महत्त्व कुरुर्तुल ऐन हैदर के आग का दरिया नामक महाकाव्यात्मक उपन्यास का भी है, जो वैदिक दर्शन, इस्लामिक दर्शन और क्रिश्चियनिटी पर विभिन्न पात्रों से डिस्कोर्स रचती है। जिसकी अगली कड़ी में कमलेश्वर कृत कितने पाकिस्तान की विस्तृत फैण्टेसी भी वैश्वीकरण की नई चुनौतियों को पेश करती है।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीति व संरचना ने हमें पारम्परिक वर्णाश्रम व्यवस्था से आधुनिकता बोध वाले समाज की संरचना पर सोचने के लिए विवश किया था। हालांकि हमारे अपने मध्ययुगीन रिनेसां-पुनर्जागरण की प्रक्रिया कम श्रेयस्कर नहीं रही है। पर टेक्नोलोजी, प्रौद्योगिकी संचार माध्यम व्यवस्था के समुन्नत रूप ने हमें वैश्वीकरण की आर्थिक-दुरभिसंधियों पर सोचने के लिए विवश किया है। एक स्पष्ट यथार्थवादी-प्रतिबद्ध विचारदृष्टि के प्रभाव के कारण प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी उत्तर-आधुनिकता और भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में यह अभिज्ञापित करते हैं कि "बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक की आधुनिकता ...वास्तव में टेक्नोलोजी से जुड़ी आधुनिकता थी, जिसने हमें मात्र उपभोक्ता बना दिया और साहित्य को 'उच्च साहित्य' और जनप्रिय साहित्य में बाँट दिया। भारतीय सन्दर्भ में विशिष्ट वर्ग और लोक में कोई अन्तर नहीं है। शास्त्राचार और लोकाचार एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। लोक या लौकिक तत्व भारतीय उत्तर-आधुनिक साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। वस्तुतः संस्कृति इस साहित्य का एक प्रमुख घटक है, हालाँकि कहने को विश्व के उत्तर आधुनिक साहित्य का प्रमुख घटक है। उत्तर आधुनिक साहित्य के अधिकतर विद्वान इस साहित्य को संस्कृतिप्रधान मानते हैं वह भी उदार मानवीय संस्कृति।" (साहित्य अमृत, अगस्त 2005, पृ. 154)

उपर्युक्त विवेचन में पता नहीं क्यों इन्द्रनाथ चौधुरी विशिष्ट वर्ग और लोक में अन्तर नहीं मानते हैं? क्या भारतवर्ष में वर्गीय अन्तर नहीं है, वर्ग-विषमता नहीं है? वर्णाश्रम के अवशेष और वर्गान्तर (Class-difference) संरचनात्मक कारक

तत्त्व नहीं हैं। शब्दों के घटाटोप में उत्तर आधुनिकता की दुन्दुभी बजाते हुए वे यह भूल जाते हैं कि ग्रामीण अंचलों में और शहरी जीवन में निम्न वर्गों में उत्तर-आधुनिकता तो क्या, ...आधुनिकताबोध की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है। दहेज प्रथा, वेश्यावृति, भ्रष्टाचार, राजनैतिक दलों की आपाधापी किस उदार मानवीय संस्कृति के चिह्न हैं या किस उत्तर-आधुनिकता बोध के जीवन्त स्मारक? साहित्य सृजन और सांस्कृतिक चिन्तन में होनेवाले घपलों और षड्यन्त्रों को आम पाठक पहचान लेता है।

वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में हमें रचनाकार और आलोचकों के अन्तर्विरोधी वक्तव्यों, घोषणाओं और सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करना होगा ताकि भारतीय साहित्य सम्बन्धी सांस्कृतिक विशिष्टता की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को जान सकें। यह सुविचारित तथ्य है कि उत्तर-आधुनिकता परम्परा और वर्तमान की संक्रमणशील स्थिति और टकराहट को अभिव्यक्त करती है। इनमें कथा वर्णन की योजना और नीतियों के प्रयोग में अभिनव शैली है। यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्बन की प्रवृत्ति कम है प्रतिबद्ध भाव से, और फेण्टेसी तथा कलात्मक विचरण की अधिक।

कमलेश्वर, अरुधन्ती राय, दामोदर मावजो, भैरप्पा, प्रतिभा राय, शेषेन्द्र शर्मा, नागेश करमली, महाबलेश्वर सैल, कर्तारसिंह दुग्गल और वासुदेवन नायर आदि लेखक प्रतीकात्मक-मिथकीय प्रसंगों तथा भारतीय स्थितियों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि वर्तमान यथार्थ के गत्यात्मक रूप को एक व्यापक आयाम प्रदान किया जा सके और भारतीय जन-जीवन की सांस्कृतिक विशिष्टता का रूपायन हो सके।

स्वातन्त्र्यपूर्व दौर में भी भारतीय साहित्य में मिथकीय व प्रतीकात्मक प्रसंगों की अवतारणा युगीन संक्रमण को अभिज्ञापित करने के लिए हुई है। निराला कृत राम की शक्तिपूजा नामक कविता में मिथकीय व ऐतिहासिक प्रसंगों में धर्म और अधर्म, नैतिकता और अनैतिकता के शाश्वत संघर्ष का चित्रण किया गया है। जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश आदि के नाटकों में युद्ध और त्याग का, आत्मा और परमात्मा के चिन्तन बोध का, न्याय और अन्याय का, परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व पाया जाता है। हरिकृष्ण प्रेमी से लेकर रमेश बक्षी तक, हमीदुल्ला से लेकर सफदर हाशमी तक ने अपने नाटकों में सहिष्णुता, हिन्दू-मुस्लिम समुदाय की सांस्कृतिक एकता पर बल दिया है।

कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय साहित्य में विभिन्न जातियों, धर्मों, मत-मतान्तरों, वर्ण और वर्गों के समन्वय की विराट सांस्कृतिक चेष्टा पाई जाती है। उदाहरण हेतु जीलानी बानो के ऐवाने गजल, कुरुर्तुल ऐन हैदर के आग का दरिया और कमलेश्वर के कितने पाकिस्तान तथा महाबलेश्वर सैल के युग सौंवर का नाम लिया जा सकता है। गिरीश कर्नाड के नाटक तुगलक, ययाति,

हयवदन और तलेदण्ड में इतिहास, संस्कृति और वर्ग संक्रमण पर पुनर्विचार की प्रवृत्ति पाई जाती है। कहना न होगा कि सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के धरातल पर गिरीश कर्नाड कन्नड़ भाषा में **ययाति** के मिथक एवं प्रतीक को नाट्य रूप में विवेचित करते हैं तो मराठी भाषा-साहित्य में विष्णु सखाराम खांडेकर उपन्यास-विधा में **ययाति** के चारित्रिक अन्तर्विरोध को महाकाव्यात्मक मूर्त स्वरूप प्रदान करते हैं।

वर्तमान दौर में एक ओर विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य में महाभारत और रामायणकालीन मिथकीय पात्रों की पुनर्मीमांसा पाई जाती है—जिसका प्रमाण विश्वनाथ सत्यनारायण (रामायण कल्पवृक्षम), वि.स. खाण्डेकर (ययाति), दिनकर (रश्मिरथी), धर्मवीर भारती (अंधायुग), शिवाजी सांवत (मृत्युंजय), नरेश मेहता (संशय की एक रात), भैरप्पा (पर्व), प्रतिभा राय (द्रोपदी) आदि रचनाएँ हैं। वहीं आधुनिक बोध से परिचालित जासुआ (गब्बिलम), तकषी शिवशंकर पिल्लै (चेम्मीन, केयर), महाश्वेता देवी (चोटी मुण्डा और उसका तीर और अग्निगर्भ), शेषेन्द्र शर्मा (गुर्रिल्ला, ना देशमु ना प्रजलु), लैम्बर्ट मेस्कर हेंस (सारोविंग द लैण्ड), अरूधन्ती राय (गॉड ऑफ स्माल थिंग्स), मैत्रेयी पुष्पा (इदन्नमम, चाक), कमलेश्वर (कितने पाकिस्तान), दामोदार मानजो (कार्मेलीन), संजीव (जंगल यहाँ से शुरू होता है), मोहम्मद आरिफ (उपयात्रा), चित्रा मुद्गल (आंवा), महाबलेश्वर सैल (युग साँवर), प्रभा खेतान (छिन्नमस्ता) आदि का कृतित्व है। बंगाली भाषा के बसु का उपन्यास **रात भर वर्षा** और प्रभा खेतान का **आओ पेपे घर चलो** भारतीय मनोभूमि और विदेशी जीवन के संक्रमणशील भावों की अन्तर्व्यथा को पेश करता है।

सारांशतः साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी प्रवृत्ति अब **वैश्वीकरण** के मुखौटे धारण करके आर्थिक दोहन के लिए आमादा है। जिसके शिकार अल्प विकसित एशियाई देश हैं। जिसके **प्रतिरोध** का मामला हमारे **सांस्कृतिक वैशिष्ट्य** की सुरक्षा है। अपने-अपने राष्ट्र व देश की साहित्यिक परम्परा में। कारण राजनीतिक अर्थों में संस्कृति अनजान सामूहिक दर्शकों के निष्क्रिय उपभोग का मामला नहीं है बल्कि वास्तविक सृजकों, कलाकारों और वास्तविक दर्शकों व पाठकों के बीच सक्रिय हिस्सेदारी व **'विजन'** भरी सही समझ का है। वैश्वीकरण का हर पहलू अन्तर्विरोधों एवं द्वंद्वात्मक बोध से परिपूर्ण है अतः हमें अन्तर्विरोधों की प्रवृत्ति एवं विपरीतों की एकता के बीच में **प्रतिरोधी संस्कृति** की सुरक्षा करने के लिए मानवीय चेतना के विकास हेतु उपक्रम रचना होगा।

सन्दर्भ

1. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 80
2. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 124

3. एस. राधाकृष्णन, ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थाट
4. रवीन्द्रनाथ टैगोर, ए विजन ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ. 34
5. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 23
6. डी. भट्टाचार्य, हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, पृ. 133
7. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय चिन्तन की द्वंद्वात्मक प्रगति-1, वही, पृ. 25
8. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 95
9. राधाकमल मुकर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृ. 18
10. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 21
11. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 81
12. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 187
13. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 114
14. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 123
15. सुनीति कुमार चाट्टर्ज्या, भारतीय यूरोपीय तथा भारतीय आर्य-भाषाएँ, पृ. 18
16. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 110
17. वही, पृ. 114
18. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 28
19. श्यामा चरण दुबे, परम्परा इतिहास-बोध और संस्कृति, पृ. 34
20. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 130
21. विनयतोष भट्टाचार्य, कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड-2, पृ. 218
22. बी. दास गुप्ता, एन इण्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, पृ. 80
23. सर जौन वुड्रफ, प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र, पृ. 400
24. राधाकमल मुकर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृ. 20
25. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 34
26. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 48
27. श्यामाचरण दुबे, परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ. 46
28. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 207
29. आर.एस. शर्मा, ऑस्पेक्टस ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियेंट इण्डिया, पृ. 204
30. सरकार, शुक्रनीति, अनूदित खण्ड चार, पृ. 89
31. भगवतशरण उपाध्याय, भारत के साहित्य की कहानी, पृ. 25
32. रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य की भूमिका
33. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 101
34. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 286-87
35. ऐरेन फेल्स, मदर राइट इन इण्डिया, पृ. 81
36. राधाकमल मुकर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृ. 19
37. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय साहित्य की कहानी, पृ. 51
38. इश्तियाक हुसैन कुरेशी, दि मुस्लिम कम्युनिटी ऑफ इण्डो-पाकिस्तान सबकांटिनेट, पृ. 132
39. विक्रमाजित हसरत, दाराशिकोह : लाइफ एण्ड वर्क्स
40. दाराशिकोह, सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रेटिशन, पृ. 445
41. मोहम्मद नूर नबी, डेवलपमेंट ऑफ इण्डियन रिलीजिसस थाट इन इण्डिया, पृ. 59

42. अरविन्द घोष, उत्तर पाडा स्पीच, पृ. 20
43. बी.सी. पाल, सोल ऑफ इण्डिया, पृ. 134
44. राधाकमल मुकर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृ. 78
45. शिवनारायण सिंह अनिवेद, आधुनिक भारत की द्वंद्व कथा, पृ. 75
46. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 103
47. श्यामा चरण दुबे, परम्परा, इतिहासबोध और संस्कृति, पृ. 48
48. जवाहरलाल नेहरू, भारत की खोज
49. इन्द्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 96
50. मैनेजर पाण्डेय, राष्ट्रभाषा, जुलाई 2006, पृ. 30
51. एजाज अहमद, आलोचना जुलाई-सितम्बर 2001, पृ. 12